नृत्यसूत्रम्



डॉ. पुरु दाधीच

नृत्तसूत्रम्

डॉ० पुरु दाधीच

बिन्दु प्रकाशन, उज्जैन

श्री विष्णुधर्मोत्तरपुराणे तृतीयखण्डे चित्रसूत्रान्तर्गतं

नृत्तसूत्रम्

(परिचय, हिन्दी अनुवाद एवं समीक्षात्मक टिप्पणियों सहित मूलपाठ)

डॉ. पुरु दाधीच

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित

बिन्दु प्रकाशन, उज्जैन

○ नृत्तसूत्रम

प्रकाशक:
बिन्दु प्रकाशन
श्री लक्ष्मी जनार्दन मन्दिर
सराफा बाजार
उज्जैन-456.001 (म.प्र.)

प्रथम संस्करण : 1990

मूल्य : रुपये 39/-

ISBN : 81-900056-4-2

मुद्रक :
एकेडमी प्रेस
दारागंज, इलाहाबाद

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

पुरोवाक्

"नृत्तसूत्रम्" विष्णु धर्मोत्तर पुराण के तृतीय खण्ड के प्रारम्भिक भाग में ४३ अध्यायों में वर्णित "चित्रसूत्रम्" के अन्तर्गत नृत्यकला का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने वाले १५ अध्यायों का स्वतंत्र संकलन है, जिसे "नृत्त-सूत्रम्" अभिधान से स्वयं पुराणकार महर्षि मार्कण्डेय ने विभूषित किया है। हमारे पौराणिक साहित्य में तो विष्णु धर्मोत्तर का अपना विशिष्ट स्थान है ही, साथ ही ललित कलाओं के अध्येताओं के लिए भी इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। आधुनिक कलासमीक्षकों ने "ललित कला" के अन्तर्गत जिन पाँच कलाओं—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत व काव्य को क्रमिक रूप से मान्यता दी है उनकी न केवल उसी क्रम में अपितु परस्पर परम्परित भाव में अन्त-र्सम्बन्धों की जो व्याख्या आज से डेढ़-दो हजार वर्ष पूर्व इसमें की गई है वह किसी भी अध्येता को आश्चर्यान्वित कर देती है। पुराणकार एक कला के सम्यक् ज्ञान के लिए अन्य कला रूपों का ज्ञान आवश्यक मानता है और इसी क्रम में वह कहता है—"विना तु नृत्तशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्" (बिना नृत्य शास्त्र के चित्रसूत्र को जानना अत्यन्त कठिन है)। इसी दृष्टि से वह चित्रसूत्र से पूर्व १५ अध्यायों में नृत्यशास्त्र का विवेचन प्रस्तुत करता है। यद्यपि नृत्तसूत्र की वर्णना पर भरत नाट्यशास्त्र का गहरा प्रभाव है किन्तु उससे परे भी इसकी अपनी कुछ मौलिक मान्यताएँ व प्रस्थापनाएँ हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं तथा जिनके कारण भारतीय नाट्य साहित्य में इसका एक पृथक् स्थान संरक्षित है।

सर्वप्रथम सन् १९२४ में डा० स्टैला क्रेमरिश ने चित्रसूत्र का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत कर विश्व भर का ध्यान इस महापुराण की ओर आकृष्ट किया। तदुपरान्त स्व० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, स्व० राय कृष्णदास प्रभृति विद्वानों ने इसके चित्रसूत्र पर सराहनीय कार्य किया तथा डा० प्रियबाला शाह ने सन् १९५८ में बड़ौदा से सम्पूर्ण तृतीय खण्ड एवं सन् १९७४ ई० में

डा० अशोक चटर्जी ने वाराणसी से केवल चित्रकला सम्बन्धी पांच अध्यायों का संकलन "चित्रसूत्रम्" प्रकाशित करवाया। किन्तु उस चित्रसूत्र का आधार भूत "नृत्तसूत्र" अब तक विद्वानों द्वारा उपेक्षित ही रहा है, जब कि प्राचीन भारतीय चित्र एवं शिल्प सम्पदा के यथातथ्य निर्णय का सबसे प्रामाणिक साधन यही नृत्त सूत्र है, नृत्य व तंत्र शास्त्र के सम्बन्धों को जोड़ने वाली कड़ी यही नृत्तसूत्र है तथा भरत नाट्यशास्त्र व अन्य मध्य कालीन ग्रंथों के बीच की कड़ी भी यही नृत्तसूत्र है। नृत्तसूत्र की इन्हीं निजी विशेषताओं ने इसे स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत करने के लिए मुझे प्रेरित किया। मूलपाठ के सम्पादन के साथ ही अधिकाधिक लोग इसका लाभ उठा सकें इस दृष्टि से इसका हिन्दी अनुवाद भी किया गया है और अन्य ग्रंथों से इसके साम्य-वैषम्य को बताने वाली समीक्षात्मक टिप्पणियाँ परिशिष्ट भाग में देकर इसे सर्वांग पूर्ण स्वरूप देने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार नृत्यशास्त्र के अध्येताओं के लिए तो यह ग्रंथ परम उपयोगी है ही साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति एवं स्थापत्य के विद्वानों के लिए भी इसकी उपादेयता निर्विवाद है।

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी लखनऊ ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन हेतु रुपए पाँच हजार की आर्थिक सहायता देकर इस कृति को जन साधारण तक पहुँचाने में एक सार्थक पहल की है। इस हेतु मैं अकादमी के समस्त अधिकारियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस ग्रंथ के सम्पादन में मैंने अनेक ग्रंथों की सहायता ली है अतः उन सब के लेखकों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ। कथक नृत्य की विदुषी नृत्यांगना मेरी धर्मपत्नी डा० विभा दाधीच से भी इसके लेखन-प्रकाशन में बहुविध सहयोग प्राप्त होता रहा है, मैं उन्हें भी साधुवाद देता हूँ। एकेडमी प्रेस, इलाहाबाद के संचालक श्री सुरेन्द्र मणि त्रिपाठी के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इसके मुद्रण का उत्तरदायित्व सुचारु रूप से वहन किया।

गौरी तृतीया

दिनांक-२९ मार्च १९९० ई० —पुरु दाधीच

नृत्तसूत्र : एक परिचय

पुराण भारतीय संस्कृति के आधारभूत ग्रंथ हैं। वेदों से निःसृत ज्ञान-राशि को जन सामान्य में प्रचारित प्रसारित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य पौराणिक साहित्य ने ही किया है। उसने अपने इस महत् उत्तरदायित्व को उस भयावह संक्रमण काल में भी भली प्रकार निभाया है जब हिन्दू धर्म एवं संस्कृति पर विदेशियों द्वारा कठोर कुठाराघात किया जा रहा था। प्राचीन भारत के गौरव का विस्तार, उसकी अनन्य साधारण संस्कृति के सुदृढ़ीकरण, ऐतिहासिक तत्वों के नवीनीकरण तथा धर्म-कर्म, ध्यान-धारणा आदि विचार धाराओं के यथातथ्य निर्धारण में इनकी उपयोगिता निर्विवाद है। पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के शब्दों में—"यह सुप्रसिद्ध है कि पुराण आर्य जाति के सर्वस्व हैं। इन्हें आर्य-साहित्य के सुविस्तृत प्रासाद के आधार-स्तम्भ, प्राचीन इतिहास-मन्दिर के सुवर्ण-कलश, विविध विज्ञान-समुद्र में तैरने वाले जहाज के प्रकाश-स्तम्भ, सनातन धर्मरूपी शामियाने की डोरियाँ, मानव समाज को संस्कृति का पथ-प्रदर्शन करने वाले दिव्य प्रकाश तथा आर्य जाति की अनादिकाल से संचित विद्याओं की मंजूषाएँ कहा जाये तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। आज विज्ञान के मध्याह्न काल में जितनी नई-नई कह कर विद्याएँ प्रकाशित हो रही हैं या जितने प्रकार के वाद (राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक) जन्म ग्रहण कर रहे हैं, अन्वेषण करने पर उन सबका मूल पुराणों में मिल जाता है। यही कारण है कि पुराणों का आज भी हिन्दू जाति में बहुत बड़ा आदर है अथवा यों कहें कि वर्तमान भारतीय संस्कृति पुराणों पर ही अवलम्बित है (—पुराण परिशीलन, पृ० १)। यह अत्यन्त दुर्भाग्य का विषय रहा है कि हिन्दू-सामाजिक जीवन के आधार रूप में समादृत इस वृहत् पुराण-साहित्य की लम्बे समय तक उपेक्षा कतिपय भारतीय विद्वान भी विदेशियों के राजनीतिक कुचक्र के भ्रम में पड़ कर करते रहे, किन्तु अब भ्रम के वे बादल धीरे-धीरे छँट रहे हैं और पुराणों के सर्वतोमुखी महत्त्व को सभी स्वीकारने लगे हैं।

धर्म, कला, संस्कृति आदि के क्षेत्र में तो इनका महत्त्व निर्विवाद है ही, यहाँ तक कि इतिहास के विद्वान भी अब स्वीकारने लगे हैं कि पुराणों की उपेक्षा करने पर मध्यकालीन इतिहास की श्रृंखला भी ठीक से नहीं बैठती।

पुराण-साहित्य

पुराण एक विद्या है जो वेद के समान ही अनादि है। वेद के दो भाग माने गए हैं—पुराण वेद व यज्ञ वेद। आज सामान्यतया यज्ञवेद को ही वेद माना जाता है तथा पुराण वेद को केवल 'पुराण' शब्द से ही अभिहित किया जाता है किन्तु याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों ने विद्याओं की गणना में पुराण-विद्या को प्रथम स्थान देकर इसका शीर्ष स्थानीय महत्व स्वीकारा है—

पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

पुराण नाम ही इसका सबसे पुरानापन सिद्ध करता है। पुराण प्राचीन काल की कथाओं, घटनाओं के बोधक ग्रंथ हैं। यह शब्द "इतिहास-पुराण" इस द्वन्द्व समास के रूप में भी व्यवहृत हुआ है, इससे भी वही अर्थ द्योतित होता है। सायणाचार्य के मत से—'पुराण वह है जो मनुष्य की आदिम दशा का वर्णन करता है।' यह पुराण-साहित्य अत्यन्त विशाल है जो मुख्यतः दो श्रेणियों में विभक्त है—पुराण और उपपुराण। पुराणों की संख्या १८ मानी गई है और इतने ही उपपुराण भी कहे गए हैं, यद्यपि कहीं-कहीं उपपुराणों की संख्या अधिक भी बताई गई है। १८ महापुराणों के नाम इस प्रकार हैं—१. ब्रह्म पुराण, २. पद्म पुराण, ३. विष्णु पुराण, ४. वायु पुराण (या शिव पुराण), ५. भागवत पुराण, ६. नारद पुराण, ७. मार्कण्डेय पुराण, ८. अग्नि पुराण, ९. भविष्य पुराण, १०. ब्रह्मवैवर्त पुराण, ११. लिंग पुराण, १२. वराह पुराण, १३. स्कन्द पुराण, १४. वामन पुराण, १५. कूर्म पुराण, १६. मत्स्य पुराण, १७. गरुड़ पुराण तथा १८. ब्रह्माण्ड पुराण। इसी प्रकार गरुड़ पुराण (अ० २२७) में उल्लिखित १८ उपपुराणों के नाम ये हैं—१. आदि पुराण, २. नरसिंह पुराण, ३. स्कन्द पुराण, ४. शिवधर्म पुराण, ५. दुर्वासा पुराण, ६. नारद पुराण, ७. कपिल पुराण, ८. वामन पुराण, ९. औशनस पुराण, १०. ब्रह्माण्ड पुराण, ११. कालिका पुराण, १२. वारुण पुराण, १३. माहेश्वर पुराण, १४. साम्ब पुराण, १५. सौर पुराण, १६. पाराशर पुराण, १७. मारीच पुराण एवं १८. भास्कर पुराण। जबकि "वृहद विवेक" (३/३७-३९) में

उपपुराणों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं—१. सनत्कुमार पुराण, २. बृहन्नारदीय पुराण, ३. आदित्य पुराण, ४. मानव पुराण, ५. नन्दिकेश्वर पुराण, ६. कौर्म पुराण, ७. भागवत पुराण, ८. वशिष्ठ पुराण, ९. भार्गव पुराण, १०. मुद्गल पुराण, ११. कल्कि पुराण, १२. देवी पुराण, १३. महाभागवत पुराण, १४. वृहद्धर्म पुराण, १५. परानन्द पुराण, १६. पशुपति पुराण, १७. वह्नि पुराण और १८. हरिवंश पुराण। उपपुराणों की कतिपय अन्य सूचियाँ भी प्राप्त होती हैं। इस तरह जहाँ महापुराणों की संख्या और नामों के विषय में प्रायः मतैक्य है वहाँ उपपुराणों के विषय में उतना ही मतभेद है। इन पुराणों-उपपुराणों को शैव, ब्राह्म, शाक्त, वैष्णव, सौर आदि श्रेणियों में भी बाँटा गया है, जैसे—वैष्णव पुराणों के अन्तर्गत विष्णु, विष्णु धर्म, विष्णु-धर्मोत्तर, नरसिंह, क्रियायोग सार, कल्कि तथा आदि पुराण, सौर पुराणों के अन्तर्गत साम्ब, सूर्य, सौरधर्म तथा सौरधर्मोत्तर पुराण आदि, शाक्त पुराणों के अन्तर्गत देवी, कालिका, महाभागवत, नन्दा, सारदा, वृहन्नन्दिकेश्वर आदि पुराणों की गणना की जाती है।

इन पुराणों के रचनाकार के रूप में महर्षि वेद व्यास जी की ही ख्याति है। ऐसा माना जाता है कि व्यास देव ने जिस प्रकार चार वेदों के लिए चार ब्राह्मणों (पैल, वैशम्पायन, जैमिनी व सुमन्तु) को अपना शिष्य बनाया उसी प्रकार पुराण विद्या के लिए लोमहर्षण (रोमहर्षण) नामक सूत जातीय शिष्य को यह संहिता प्रदान की। लोमहर्षण के छः शिष्य हुए तथा इनके अनेक शिष्य-प्रशिष्य हुए। सम्भवतः इसी शिष्य परम्परा द्वारा विभिन्न पुराणों की रचना की गयी हो, क्योंकि 'व्यास' एक पदवी या अधिकार के नाम के रूप में ही लिया गया है। यह भी सम्भावना प्रकट की गई है कि हो सकता है वेद व्यास द्वारा प्रस्तुत पुराण-संहिता के १८ विभाग रहे हों जिनके आधार पर इन शिष्यों ने अलग-अलग पुराण निर्मित किये हों। कारण कि वेदों में जहाँ अक्षर, पाद, वाक्य आनुपूर्वी आदि सभी की बड़ी दृढ़ता से रक्षा की गई है वहाँ पुराण केवल समझ लेने की विद्या रही है अतः उनमें अक्षर, पाद आदि की संरक्षा पर उतना बल नहीं दिया गया है, केवल अर्थ की रक्षा की गई है। इसका वाक्य-विन्यास भिन्न-भिन्न ऋषियों के साथ बदलता गया है। भिन्न-भिन्न व्यासों ने उनका विस्तार या संक्षेप भी किया है। फिर उनके परिशिष्ट स्वरूप विभिन्न उपपुराण भी रचे गये।

इन पुराणों के रचना-काल के विषय में भी बड़ा मतभेद है। प्रो० विलसन, ब्यूलर, विण्टरनित्ज, स्टैला क्रैमरिश आदि पाश्चात्य विद्वानों तथा उनका अनुकरण करने वाले आर०सी० हाजरा प्रभृति पौर्वात्य विद्वानों ने ईसा की दूसरी से ग्यारहवीं शताब्दि के मध्य एक हजार वर्षों में इन समस्त पुराणों का रचना-काल सिद्ध करने का येन-केन-प्रकारेण प्रयास किया है किन्तु इधर इस विषय में जो नवीनतम शोध-कार्य हुआ है उसमें ज्योतिषीय काल-गणना तथा अन्तर्साक्ष्यों के आधार पर इनका रचना-काल अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन सिद्ध किया जा चुका है, जैसा कि पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने भी लिखा है—"वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त जितना भी वाङ्मय आज उपलब्ध है उसमें उपलब्ध पुराण सबसे प्राचीन हैं और वे चार हजार वर्ष से इधर के कभी नहीं कहे जा सकते।"—(पुराण परिशीलन ४८)

पुराण का अपर नाम "पञ्च-लक्षण" भी है, जो इन समस्त पुराणों में समान रूप से वर्णित पाँच विषयों की ओर संकेतित करता है। ये पाँच विषय हैं—सर्ग अर्थात् सृष्टि का विज्ञान, प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय और पुनः सृष्टि, सृष्टि की आदि वंशावली अर्थात् किस मनु का अधिकार कब तक रहा तथा उस काल में कौन-कौन सी प्रमुख घटनाएँ हुईं और वंशानुचरित अर्थात् सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं का संक्षिप्त वर्णन। ये ही पुराण के पञ्च-लक्षण हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं ज्ञेयं पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

अवतारवाद पुराणों का प्रमुख प्रसंग है। शैव मत परिपोषक पुराणों में भी भगवान शिवजी के नाना अवतारों की चर्चा है। वैसे इन पुराणों का प्रमुख उद्देश्य जन मानस में पञ्च देवों—विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश व शक्ति—की उपासना का प्रचार करना है। उपासक इन पञ्च देवों में से ही किसी को प्रधान तथा शेष सभी को उसमें अन्तर्निहित माने। पुराण वेदों के उपांग कहे जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वेद के मन्त्रों में देवताओं की स्तुतियाँ मात्र हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहीं-कहीं यज्ञ-यागादि के प्रसंग में कथा-पुराण का संक्षिप्त उल्लेख आया है परन्तु विस्तार के साथ कथाओं और उपाख्यानों का कहीं होना आवश्यक था। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पुराणों की रचना हुई जान पड़ती है।—(हिन्दू धर्म कोश, पृ० ४०६)

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन चार विषयों का पुराणों में विशेष रूप से संग्रह किया गया है वे हैं —आख्यान, उपाख्यान, गाथा व कल्प शुद्धि। इन प्रमुख विषयों के अतिरिक्त भी विभिन्न पुराणकारों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक लोकोपयोगी विषयों की संक्षिप्त जानकारी इन पुराणों में संकलित की है, जिनमें कर्मकाण्ड, उपासना पद्धति, तीर्थों का माहात्म्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्य, छन्द, अलंकार शास्त्र, संगीत, नृत्य, नाट्यादि सभी कुछ समाहित है। पुराणों में विभिन्न विषयों का यह विस्तार देखते हुए महाभारत में किया गया वेद व्यास का यह दावा उचित ही प्रतीत होता है कि जो यहाँ है वही सब जगह है, जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है—"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कर्हिचित्।" भारतीय वाङ्मय में इस प्रकार का दावा दो ही व्यक्तियों ने किया है, एक तो व्यास जी का उपर्युक्त कथन दूसरी भरत मुनि की नाट्यशास्त्र विषयक यह गर्वोक्ति—

न तच्छिल्पं न तच्छास्त्रं न सा विद्या न सा कला।
न तद्योगो न तद्धर्मः यदेतस्मिन्न दृश्यते॥

—ऐसी कोई विद्या, कला, शास्त्र, शिल्प, योग या धर्म नहीं है जो इसमें (नाट्य में) न दिखाया जाता हो।

इन विभिन्न विषयों में से संगीत-नृत्य विषयक विवरण यों तो ब्राह्म, अग्नि, वायु आदि आठ पुराणों में प्राप्त होता है किन्तु चित्र एवं नृत्य कला के अंगोपांगों का जैसा विस्तृत विवरण "विष्णु धर्मोत्तर पुराण" मे प्राप्त होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—

विष्णुधर्मोत्तर की गणना उपपुराणों में की जाती है, किन्तु इसे विष्णु पुराण का परिशिष्ट भाग भी माना जाता है। इसका कारण यह है कि स्वयं पुराणों ने ही विष्णु महा पुराण का आकार २३,००० श्लोकों का माना है किन्तु विष्णु पुराण के उपलब्ध संस्करणों में मात्र ७,००० श्लोक हैं। अतः विष्णु धर्म और विष्णुधर्मोत्तर इन दोनों उपपुराणों को उसमें समीकृत मान लेने पर विष्णु पुराण की उपर्युक्त श्लोक संख्या आ जाती है। विष्णु धर्मोत्तर अतीव महत् वैष्णव उपपुराण है। यह त्रिखण्डात्मक पुराण बहुविध वैचि-

क्ष्यपूर्ण विषयों का विवरण प्रदान करता है। इसके प्रथम खण्ड में भूगोल वर्णन, पाताल वर्णन, भार्गव रामचरित्र, मन्वन्तरादि, तिथि-मुहूर्त सम्बन्धी ज्योतिष शास्त्र के विषय, सृष्टि क्रम, उर्वशी-पुरुरवा संवाद, श्राद्ध, व्रत माहात्म्य, दीप दान विधि, विष्णु पूजा, यक्ष-रक्ष-पिशाचादि का प्रादुर्भाव, भरत माहात्म्य आदि विषयों का विवेचन ७६ से २०० अध्याय तक किया गया है। द्वितीय खण्ड १८३ अध्यायों का है जो मुख्यत: राजधर्म विषयक है। साथ ही तीर्थ प्रशंसा, स्त्री चरित्र, व्रत आदि, पुरुषकार प्रशंसा, चतुर्वर्ण एवं चतुराश्रम व्यवस्था, विष्णु पूजा, कर्म विपाक, गायत्री माहात्म्य, ज्योतिविद्या, धनुर्वेद आदि विषयों का भी यहाँ विवेचन किया गया है। इसका तृतीय खण्ड ३५० अध्यायों का विशालतम है, जो साहित्य व ललित कलाओं की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है और अपनी विषय वस्तु की विविधता तथा विचित्रता से एतद् विषयक शोध कर्ताओं का ध्यान सतत आकृष्ट करता रहा है। इसमें गायत्री आदि वृत्त (छंद), संस्कृत-प्राकृत भाषा व्याख्यान, अलंकार, इतिहास, काव्य, नाट्य, गीत लक्षण, आतोद्य विधान, नृत्त स्थान, नव रस, अभिनय भेद, चित्र सूत्र, विभिन्न देव प्रतिमा निर्माण, मन्दिर स्थापन, मूर्ति प्रतिष्ठा, व्रत माहात्म्य, हंस गीता, विष्णु माहात्म्य प्रतिपादक आख्यान वर्णित हैं।

अन्य पुराणों के समान ही विष्णु धर्मोत्तर पुराण के रचना काल के विषय में भी बड़ा मतभेद है। डा० ब्यूलर के मत से इसकी रचना ईसा की पाँचवीं शताब्दी के बाद हुई है (—इण्डियन एण्टिक्वेरी, वॉल्यूम १६, १८६०, पृ० ४०८)। विण्टरनित्ज के मत से यह पुराण ईसवी सन् ६२८ से १००० ई० के मध्य रचित है (—हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भा० १, पृ० ५८०)। स्टैला क्रैमरिश (—जर्नल ऑफ द डिपार्टमेंट ऑफ लैटर्स, वाल्यूम ११, पृ० ३) तथा आर० सी० हाजरा (स्टडीज इन द उपपुराणाज़, वाल्यूम १, पृ० २१२) के मत से ईसा की पाँचवीं शती के बीच ही इसकी रचना हो चुकी थी। अन्तर्साक्ष्य के आधार पर कतिपय विद्वानों ने इसका रचना काल ई० पू० ३५०० भी निर्धारित किया है।

चित्रसूत्र—

ललित कलाओं के अध्येताओं के लिए विष्णु धर्मोत्तर पुराण का अध्ययन विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। वैसे तो लगभग सभी पुराणों में चित्र,

मूर्ति, संगीत, नृत्य, नाट्यादि कलाओं का प्रासंगिक वर्णन उपलब्ध है तथा कतिपय पुराणों में इनकी तनिक विस्तार से भी चर्चा है किन्तु विष्णु धर्मोत्तर पुराण में इन कला-रूपों के पारस्परिक सम्बन्धों की जो सूक्ष्म वैज्ञानिक आख्या प्रस्तुत की गई है वह न केवल अन्यत्र दुर्लभ है अपितु वर्तमान सन्दर्भों में भी हमारा पथ-प्रदर्शन करने में सक्षम है। डा० प्रियबाला शाह के शब्दों में—"ललित कलाओं विषयक विष्णु धर्मोत्तर का विवरण इतना सुव्यवस्थित व सारगर्भित है कि इसे प्राचीन भारतीय कलाओं का विश्वकोश कहा जा सकता है। सबसे बढ़कर बात यह है कि यह प्राचीन कला-कृतियों में प्रयुक्त विभिन्न प्रतीकों पर घना प्रकाश डालता है। इस कृति का महत्त्व इस तथ्य में अन्तर्निहित है कि यह भारतीय ललित कलाओं की परम्परा के अध्ययन में एक विश्वसनीय मार्गदर्शक की भूमिका अदा करता है।" (—अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना, पृ० १)।

ललित कलाओं विषयक यह समस्त आख्यान इस वृहद् उपपुराण के तृतीय खण्ड के प्रारम्भ में "चित्रसूत्र" शीर्षक के अन्तर्गत ४३ विस्तृत अध्यायों में दिया गया है। विषय की प्रस्तावना भी अपने ढंग की अनूठी है। अत्याधुनिक विद्वानों/कला समीक्षकों ने ललित कलाओं के अन्तर्गत जिन पाँच कलाओं—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत व काव्य-को क्रमिक रूप से मान्यता दी है उनका न केवल इसी क्रम में वरन् परस्पर अवलम्बन भाव से आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व का यह विवरण किसी भी अध्येता को आश्चर्यान्वित कर देता है। विषय का प्रारम्भ बड़े ही नाटकीय संवादों से होता है। श्रीकृष्ण के प्रपौत्र तथा अनिरुद्ध के पुत्र राजा वज्र ऋषि मार्कण्डेय से प्रश्न करते हैं—मनुष्य को किस कर्त्तव्य का पालन करने से इस लोक व परलोक में सुख की प्राप्ति होती है, वह कहिए। मार्कण्डेय कहते हैं—दोनों लोकों के सुख की इच्छा रखने वाले को देवता-पूजन करना चाहिए। विशेषकर कलियुग में "चित्रसूत्र-विधान" से देव गृह का निर्माण कर अर्चना करनी चाहिए, क्योंकि कृत् (सत्), त्रेता तथा द्वापर युगों में तो मनुष्य प्रत्यक्षतः देवताओं को निहारते हैं। तब वज्र निवेदन करते हैं—हे अनघ! मेरे प्रति देवता-रूप निर्माण का शास्त्र कहिए। मार्कण्डेय कहते हैं—हे नराधिप! जो सम्यक् रूप से चित्रसूत्र नहीं जानता उसके लिए प्रतिमा-लक्षण का ज्ञान सम्भव नहीं है। बिना नृत्त शास्त्र के चित्र-सूत्र सुदुर्विद है। जो आतोद्य-विधान नहीं जानता उसके लिए नृत्त कठिन है। गीत के बिना आतोद्य का ज्ञान नहीं होता। वह गीत भी संस्कृत व प्राकृत

दो प्रकार होता है अतः इन भाषाओं के छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि के बिना गीत को नहीं जाना जा सकता ।

चित्रसूत्रं न जानाति यस्तु सम्यक् नराधिप ।
प्रतिमालक्षणं वेत्तुं ना शक्यं तेन कर्हिचित् ।।
बिना तु नृत्त शास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम् ।
जगतोऽनुक्रिया कार्या द्वयोरपि यतो नृप ।।
आतोद्यं यो न जानाति तस्य नृत्तं सुदुर्विदम् ।
आतोद्येन बिना नृत्तं विद्यते न कथञ्चन ।।
न गीतेन विना शक्यं ज्ञातुमातोद्यमच्युत ।
गीतशास्त्र-विधानज्ञः सर्वं वेत्ति यथाविधि ।।
संस्कृतं प्राकृतं चैव गीतं द्विविध मुच्यते ।
अपभ्रष्टं तृतीयं तु तदनन्तं नराधिप ।।
देशभाषा विशेषेण यस्यान्तो नेह विद्यते ।
गीतं पाठ वशाद् ज्ञेयं स च पाठो द्विधा मतः ।।
गद्यं पद्यं च धर्मज्ञ गद्यं संकथया ह्यहम् ।
पद्यं छन्दो-विशेषेण छन्दश्च बहुधा भवेत् ।।

मार्कण्डेय ऋषि द्वारा प्रदत्त यह विवरण समस्त ललित कलाओं को न केवल एक ही नादब्रह्म के मूलाधार पर अधिष्ठित कर देता है अपितु किसी भी एक कला के ज्ञान के लिए अन्य कलाओं के परम्परित रूप से परिज्ञान की अनिवार्यता भी सिद्ध करता है । प्राचीन शिल्प, चित्र, संगीत, नृत्य व साहित्य की आत्मा को भली प्रकार समझ पाने के लिए मात्र यही सूत्र सहायक सिद्ध हो सकता है । आज के उन कलाकारों को जो पाश्चात्य देशों के अन्धानुकरण पर साहित्य, संगीत-नाटक तथा चित्र-मूर्ति कला के अलग-अलग फिरके (अकादेमियाँ) बना कर कूप-मण्डूक बने बैठे हैं उन्हें इस विवरण से शिक्षा ग्रहण करना चाहिए ।

इस भूमिका के बाद मार्कण्डेय ने प्रथम सत्रह अध्यायों में संक्षेप में संस्कृत व्याकरण, छन्द, अलंकार, महाकाव्यादि लक्षण कहा है । १८वाँ अध्याय "गीत लक्षण" तथा १९वाँ अध्याय "आतोद्य-विधान" है । इसके उपरान्त २० से ३४ वें अध्याय तक सार रूप में सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र का वर्णन किया है, जिसका नाम "नृत्त सूत्र" दिया गया है । तदुपरान्त ३५ से

३६ वें अध्याय तक चित्रकला के समग्र पक्षों पर साधिकार प्रकाश डाला गया है। ये पाँच अध्याय ही वस्तुतः 'चित्र सूत्र' हैं। इसके उपरान्त प्रतिमा-निर्माण, मन्दिर निर्माण (स्थापत्य), मूर्ति प्रतिष्ठापन आदि विषय वर्णित हैं। यही संक्षेपतः चित्र सूत्र है, जो प्राचीन भारतीय ललित कलाओं का विश्वकोश जाना जाता है।

नृत्त सूत्र

विष्णु धर्मोत्तर पुराण के तृतीय खण्ड के आरम्भ में २० से ३४ तक कुल १५ अध्यायों में सम्पूर्ण नाट्य शास्त्र की विषय वस्तु को संक्षेपतः कहने का प्रयास किया गया है। स्वयं पुराणकार ने ही इस अंश का नाम "नृत्तसूत्रम्" दिया है। यह नृत्त सूत्र ही प्रस्तुत ग्रंथ के रूप में सम्पादित व अनूदित है। इसका प्रारम्भ नाट्य व नृत्त लक्षण से होता है। तदुपरान्त प्रथम अध्याय में ही नृत्त भेद, नाट्य स्थान, नाट्य मण्डप भेद, पूर्वरंग विधि, नान्दी पाठ, पात्र लक्षण, अभिनय भेद, आहार्य अभिनय, वेश विधि, सात्विक भाव, वाचिक अभिनय, रेचक भेद, चारी भेद, मण्डल भेद, आकाशकी मण्डल, भौम मण्डल, अंगहार, करण, पिण्डीबन्ध, वृत्तियाँ, प्रवृत्ति, धर्मी, सिद्धि आदि का नामतः कथन किया गया है। प्राचीन काल में शास्त्र-लेखन की एक विशिष्ट पद्धति रही है जो क्रमशः संग्रह, कारिका व निरुक्त के रूप में जानी जाती थी। सर्वप्रथम ग्रंथ के उद्देश्य रूप में वर्ण्यमान विषयों का नामतः कथन किया जाता था, यही 'संग्रह' है। तब उनका लक्षण बताया जाता है, जो 'कारिका' कही जाती है और फिर उसका परीक्षण किया जाता है, यही 'निरुक्त' है। इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए इस प्रथम अध्याय में वर्ण्य विषयों की उपर्युक्त नामावली 'संग्रह' रूप में प्रस्तुत की गई है।

द्वितीय अध्याय में छः 'शय्या स्थानों'—सम, आकुंचित, प्रसारित, विवर्तित, उद्वाहित व नत का वर्णन किया गया है। इसी क्रम में तृतीय अध्याय में नौ 'उपवेशन विधियों'—मन्दालस, क्लान्त, स्रस्तालस, विष्कम्भित, सम, उत्कट, मुक्तजानु, जानुगत व विमुक्त और 'आसन-विधि' का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में पाँच प्रकार के पुरुष स्थानकों तथा तीन प्रकार के स्त्री स्थानकों के लक्षण देकर तब पाँचवें अध्याय में क्रमशः शिरो कर्म, ग्रीवा कर्म, मुख कर्म, सौष्ठव भेद, पार्श्व कर्म उदर कर्म, कटि कर्म, ऊरु कर्म, जंघा कर्म, पाद कर्म

एवं मण्डल भेद बताये गये हैं। षष्ट अध्याय में ३६ प्रकार के दृष्टि भेद, दृष्टि योजना; पुट कर्म, तारक कर्म, दर्शन भेद, भ्रू कर्म, गण्ड कर्म, नासिका कर्म, दन्त कर्म व अधर कर्म वर्णित हैं। सप्तम अध्याय हस्ताभिनय सम्बन्धी है। इसमें क्रमशः २३ प्रकार के असंयुत हस्त, १३ प्रकार के संयुत हस्त एवं २५ प्रकार के नृत्त हस्तों के लक्षण विनियोग हस्त-करण व हस्त प्रयोग विधि दी गई है। अष्टम अध्याय में संक्षेपतः अभिनय भेद बताकर आहार्य अभिनय का विस्तार से वर्णन किया गया है। नवम अध्याय में सामान्याभिनय के अन्तर्गत शब्द, स्पर्शादि, पंच ज्ञानेन्द्रिय, प्रभात, गगन, रोमांच, भ्रमर बाधा, संख्या आदि की अभिनय विधि बताई गई है। दशम अध्याय में विभिन्न प्रकार की गतियाँ वर्णित हैं। एकादश अध्याय में रसों का निरूपण किया गया है। द्वादश अध्याय भावों के निरूपण सम्बन्धी है। त्रयोदश अध्याय मुद्रा हस्तों और चतुर्दश अध्याय रहस्य मुद्राओं का तंत्रशास्त्रानुसार विवरण प्रस्तुत करता है, जो कि नाट्यशास्त्रीय परम्परा के ग्रंथों में सर्वथा नई वस्तु है। पंचदश अध्याय में नृत्योत्पत्ति की कथा तथा नृत्य की महिमा का बखान किया गया है।

नृत्त सूत्र का वैशिष्ट्य एवं महत्त्व

नृत्त सूत्र की वर्णना पर भरत नाट्य शास्त्र का गहरा प्रभाव है और ऐसा होना स्वाभाविक भी है। नृत्त सूत्र एक धार्मिक ग्रंथ विष्णु धर्मोत्तर पुराण का अंश है। हिन्दू धर्म में हर प्रकरण में प्रमाण रूप में वेदों को ही ग्रहण किये जाने की परम्परा है और सम्पूर्ण भारतीय नाट्य-साहित्य में एकमात्र भरत मुनि कृत नाट्य शास्त्र को ही पंचम वेद कहलाने का गौरव प्राप्त है। अतः नाट्य विषयक वर्णना के प्रसंग में पुराणकार उसे ही आधार रूप में ग्रहण करता है। किन्तु ऐसा करते हुए भी वह अपनी समसामयिक अन्य परम्पराओं की भी उपेक्षा नहीं करता और अनेक प्रकरणों में अपनी मौलिकता प्रदर्शित करने में भी पीछे नहीं रहता।

नृत्तसूत्र का कलेवर मध्य कालीन नृत्य विषयक लघु प्रकरण ग्रंथो तथा संगीत ग्रंथों के नर्तनाध्यायों से बहुत भिन्न नहीं है, तदपि इसे उन सभी का पूर्ववर्ती और प्रेरक आदर्श माना जा सकता है। ऐसा मानने के कई कारण हैं। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में मुख्य रूप से दो मंचीय कलाओं का

सांगोपांग वर्णन किया है, ये हैं—नाट्य और नृत्त। प्रथम की शिक्षा उन्होंने ब्रह्माजी से प्राप्त की तथा अन्य की शिक्षा शिवजी से। शास्त्रारम्भ में अपने दोनों ही गुरुओं की समान रूप से वन्दना करते हुए भी वे विशेष महत्ता नाट्य को ही प्रदान करते हैं तथा नृत्त को उसका "शोभा विधायक तत्व" मात्र मानते हैं और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे शिवजी के निर्देश पर नृत्त को अपने विस्तृत नाट्य प्रयोग में स्थान देते हैं। कालान्तर में नाट्य व नृत्त इन दोनों कलाओं के मेल से एक तीसरी कला विकसित हुई, जिसे "नृत्य" नाम दिया गया। नाट्य में अभिनय अर्थात् रसाभिव्यक्ति तो होती है किन्तु उस अभिनय-व्यापार में लय-ताल का प्रतिबन्ध नहीं रहता, दूसरी ओर नृत्त में सारा हलन-चलन तालबद्ध ही होता है, किन्तु वह किसी भी प्रकार की अर्थाभिव्यक्ति से रहित है। इन दोनों ही एकांगी कलाओं को नृत्य में पूर्णता प्राप्त होती है, जिसमें लय-ताल के साथ अंग संचालन करते हुए भावों का प्रदर्शन किया जाता है। नृत्य का जन्म नाट्य व नृत्त के सांकर्य से ही हुआ है तदपि उसका स्वरूप दोनों से भिन्न है। नाट्य अर्थात् रूपक प्रबन्ध काव्य की तरह है और नृत्य मुक्तक या गीत के समान। महाकाव्यों में एक विस्तृत कथानक के माध्यम से विभिन्न पात्रों का चरित्र-चित्रण करते हुए रसों की अवतारणा की जाती है और ऐसा ही प्रयास नाट्य में भी होता है, जबकि गीत किसी एक भाव-भूमि को लेकर ही रचा जाता है। यही स्थिति गीताश्रित नृत्य की है। गीत व नृत्य दोनों में ही कथानक के विकास की गुंजाइश नहीं होती। इसी कारण नाट्य को रसाश्रित व नृत्य को भावाश्रित कहा गया है। अर्थाभिव्यक्ति से रहित नृत्त से तो नृत्य का अन्तर स्वतः स्पष्ट है। नाट्य प्रयोग तो बहुपात्रीय होता ही है। भरत ने जिस नृत्त की वर्णना की है वह भी "बहु नर्तकी समायुक्त' है। अत: एकल प्रदर्शन की आवश्यकता ने अभिनय के क्षेत्र में जिस एकल-प्रयोज्या (Solo performing) कला को जन्म दिया वह है—नृत्य। आज भी सम्पूर्ण भारत में शास्त्रीय कही जाने वाली जितनी भी नृत्य शैलियाँ हैं, चाहे वह उत्तर भारत का कथक हो या दक्षिण भारत का भरतनाट्यम् अथवा पूर्व का ओडिसी, इन सभी की अनिवार्यतः एकल प्रदर्शन की परम्परा ही रही है। इस प्रसंग में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दर्शन-सुख का विशेष सम्बन्ध स्त्री-सौंदर्य से ही है। अतः जहाँ नृत्त पुरुषों के करने योग्य माना गया वहीं नृत्य को नारी-सुलभ स्वीकारा गया—"नृत्तं पुरुषकृतं ज्ञेयं नृत्यं नारीकृतं तथा"—नृत्त रत्नावली। हम देखते हैं कि भारतीय

साहित्य में अनेक नृत्यांगनाओं का नामोल्लेख हुआ है तथा आज भी प्रायः समस्त शास्त्रीय नृत्य शैलियाँ मुख्यतः स्त्री-प्रयोज्या ही हैं।

यह नृत्य शताब्दियों तक अपनी प्रयोगावस्था (Experimental stage) में ही रहा है। इस तरह का प्रारम्भिक प्रयोग स्वयं भरत मुनि ने ही किया था। नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में पूर्व रंग के प्रसंग में जहाँ आसारित आदि गीतों के साथ नृत्त के विनियोजन का व्यावहारिक स्वरूप बताया गया है वहीं उसी विषयवस्तु को अभिनय के माध्यम से प्रदर्शित करने की बात भी कही गई है—

गीतकार्थं त्वभिनयेद् द्वितीयासारितस्य तु।
तदैवतु पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत्॥

—भ० ना० शा० ४/२८५-८६

भरत के समय यह प्रयोग पूर्वरंग तक ही सीमित था, मुख्य नाटक में उसका प्रवेश नहीं हो पाया था किन्तु उनके उत्तराधिकारी कोहल ने इस नृत्य को माध्यम बनाकर अनेक उपरूपकों की सृष्टि की। रासक, भाण, डोम्बी, भाणिका, नर्तनक, प्रस्थानक, हल्लीसक, काव्य, श्रीगदित, परिजातक, शिल्पक, गोष्ठी, कल्पवल्ली आदि को श्री डी० आर० मंकड आदि विद्वानों ने "नृत्य टाइप" ही कहा है। इसके उपरान्त नाटक, प्रकरण आदि रूपक भेदों में भी नृत्य का उपयोग किया जाने लगा। कालिदास के "मालविकाग्निमित्रम्" में नायिका द्वारा प्रस्तुत बहुचर्चित "छलिअं णाम णट्टअम्" अपनी प्रकृति से नृत्य ही है; क्योंकि कवि उसके "यथारस अभिनयन" की बात कहता है। किसी निबद्ध गीत के आधार पर किया जाने वाले अभिनय-व्यापार ही तो नृत्य है। तदपि यह 'नृत्य' संज्ञा बहुत बाद में प्रचार में आई। सर्वप्रथम अमरसिंह के "नामलिङ्गानुशासनम्" (अमरकोश) में ही यह नृत्य शब्द प्राप्त होता है। इसके पूर्व और बाद में भी लम्बे समय तक, नृत्य के लिए भी नृत्त शब्द ही व्यवहृत होता रहा। जैसे जाय सेनापति का "नृत्त रत्नावली", जो मूलतः नृत्य-विषयक ग्रंथ होते हुए भी उसके शीर्षक में नृत्त शब्द प्रयुक्त हुआ है।

भरतोत्तर काल में यह नृत्यकला क्रमशः इतनी अधिक लोकप्रिय होती गई कि "पात्र" शब्द का अर्थ सिमट कर 'नर्तकी' रह गया (पात्रं स्यान्नर्तनाधारो नृत्ते प्रायेण तु नर्तकी—नृत्त रत्नावली)। राजसभाओं व देवालयों में

इन नर्तकियों को सम्मानपूर्ण स्थान मिला। नाट्याचार्य का अर्थ भी अब नृत्याचार्य हो गया और उनका समस्त ध्यान इन नर्तकियों की शिक्षा-दीक्षा पर केंद्रित हो गया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने छोटे-छोटे प्रकरण ग्रंथ रचना आरम्भ किये। इसी प्रयास की एक आरम्भिक कड़ी है यह नृत्तसूत्र। सूत्रकार, चित्रकार व शिल्पी (मूर्तिकार) के लिए भी नृत्य का ज्ञान आवश्यक मानता है (विनातु नृत्तशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्); क्योंकि नृत्य ही उन छवियों का प्रदाता है जिसका उसे अंकन करना है। तब शायद नृत्यांगनाएँ ही उनके लिए 'मॉडल' (Model) का कार्य भी करती रही होंगी। दक्षिण भारत तथा उड़िसा के कतिपय मन्दिरों में प्राप्त शिलालेखों में शिल्पकार के साथ उन नृत्यांगनाओं का भी नामोल्लेख हुआ है जिन्होंने मॉडल के रूप में कार्य किया है। इस प्रकार चाहे हम स्टैला क्रेमरिश व डा० हाजरा के काल-निर्धारण को ही स्वीकार कर लें तब भी इसका रचना-काल समस्त नृत्य सम्बन्धी प्रकरण ग्रंथों मे पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। शिवजी द्वारा उद्भूत नृत्त के आधारभूत तत्त्व करण अङ्गहार, चारी, मण्डल, स्थानक व रेचकों तथा नाट्य के प्रधानतः आंगिक व सात्त्विक अभिनय भेदों को लेकर नृत्य की स्वरूप रचना हुई है, इसी कारण परवर्ती ग्रंथों में इनका ही वर्णन उपलब्ध है तथा अन्य नाट्य तत्त्व; जैसे—धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, रंगमण्डप आदि की या तो चर्चा ही नहीं है या नाममात्र का उल्लेख भर है। नृत्तसूत्र में भी हम इसी प्रवृत्ति का प्रारम्भिक स्वरूप देखते हैं। सूत्रकार प्रथम अध्याय में संस्कारवश "एकादश नाट्यसंग्रह" का संकलन तो भरत के ढंग पर करता है किन्तु विवरण केवल आंगिक अभिनय भेदों के ही प्रदान करता है। यहाँ तक कि वह करण; अङ्गहारादि की वर्णना को भी महत्त्व प्रदान नहीं करता। परवर्ती काल में भी इनकी गणना "मार्ग नृत्त" के आधारभूत तत्त्वों के रूप में की गई तथा इनके वर्णन की प्रवृत्ति क्रमशः लुप्त होती गई। इसी प्रकार नृत्तसूत्र ने नाट्य के साथ तंत्रों का सम्बन्ध स्थापित कर मुद्राहस्तों की जो वर्णना की है उसे भी आगे प्रोत्साहन नहीं मिला। यह सब उसी आरम्भिक अवस्था के लक्षण हैं जब नृत्य अपना स्वरूप ग्रहण कर रहा था।

नृत्तसूत्र की सम्पूर्ण वर्णना को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम भाग में वे अभिनय भेद आते हैं जो पूरी तरह भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार ही वर्णित हैं। हम देखते हैं कि नृत्तसूत्र के शय्या स्थान, वक्ष, पार्श्व, उदर, कटि, ऊरु, जंघा, पाद, दृष्टि, पुट, तारक, दर्शन, भ्रू, गण्ड, नासिका,

दन्त व अधर कर्म न केवल नाट्यशास्त्र के अनुसार हैं अपितु इनमें से अधिकांश के लक्षण-श्लोक भी नाट्यशास्त्र से ज्यों के त्यों ले लिये गये हैं। यह प्रवृत्ति बाद में भी संगीत रत्नाकर आदि ग्रंथों में दृष्टि गोचर होती है। दूसरी श्रेणी में वे अभिनय भेद आते हैं जिनमें नाट्यशास्त्र से आंशिक अन्तर है। यह अन्तर मुख्यतः दो कारणों से आया प्रतीत होता है। एक तो पाठ भेद या लिपिक-प्रमाद के कारण ऐसा संभव हुआ है। दूसरे, नाट्यशास्त्र के साथ ही साथ अपनी समसामयिक परम्पराओं को भी प्रदर्शित करने या अपनी मौलिक उद्भावनाओं का दिग्दर्शन कराने की अभिलाषा से ऐसा हुआ हो। जो भी स्थिति रही हो, हम प्रत्यक्षतः यह पाते हैं कि मुख कर्म की वर्णना में नाट्य शास्त्र से आंशिक अन्तर है। स्थानक भेदों में स्त्री स्थानकों का वर्णन नाट्य-शास्त्र से परवर्ती परम्परा है। इसी श्रेणी में उपवेशन स्थानों को भी रखा जा सकता है। हस्ताभिनयों के लक्षण-विनियोग नाट्यशास्त्र के अनुसार ही होते हुए भी उनमें से स्वस्तिक, विप्रकीर्ण, उत्तानवंचित एवं पक्ष तंचितक नामक नृत्त हस्तों के स्थान पर अवहित्थ, अंचित, अन्वय व पद्मकोश नामक चार नवीन नृत्तहस्तों का वर्णन किया गया है। चार प्रकार के हस्तकरणों के लक्षण तो नाट्यशास्त्र के अनुसार ही हैं किन्तु उन्हें नवीन नाम दिये गये हैं। ताण्डव नृत्त के आधारभूत करण एवं अंगहारों की यहाँ केवल नामावली ही दी गई है, लक्षण नहीं। इनमें भी नाट्यशास्त्र के ३२ के स्थान पर यहाँ ३६ अंगहारों का उल्लेख है, जिनमें से २८ नाम तो नाट्यशास्त्र के अनुरूप हैं, शेष ८ नाम नवीन हैं। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र के १०८ करणों में से यहाँ केवल ६० करणों के नाम प्राप्य हैं, जिनमें से ६ नाम सर्वथा नवीन हैं। सामान्याभिनय व गतिलक्षण पूरी तरह नाट्यशास्त्र के अनुसार होते हुए भी उनका संक्षिप्ति-करण किया गया है। रस निरूपण के प्रसंग में शान्त रस की प्रस्थापना तथा उसे विशिष्ट महत्त्व प्रदान करना भी नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अनुकूल नहीं है। भावों के निरूपण के प्रसंग में भी सूत्रकार "क्रीड़ा" नामक एक नवीन संचारी भाव की परिकल्पना प्रस्तुत करता है। आंशिक अभिनय के उपरान्त सर्वाधिक विस्तार से आहार्य अभिनय यहाँ वर्णित है। यह वर्णना नाट्य-शास्त्र के अनुसार ही होते हुए भी इसके विभिन्न प्रसंगों में कतिपय नवीन उद्भावनाएँ सूत्रकार प्रस्तुत करता है। जैसे कि अंग रचना के अन्तर्गत मूल तथा मिश्रित वर्णों का विधान सर्वथा नवीन वस्तु है। इसी प्रकार जाति के अनुसार पृथक्-पृथक् वर्ण-योजना का विधान भी सर्वथा नया है। देवताओं

को श्मश्रु न करने का विधान भी लोकाचार परम्परा से पोषित नवीन विधि है। मुकुट-विधि में क्रमशः ७, ५, ३ व १ शिखरों वाले किरीटों तथा राक्षसों के लिए एक पट्ट विस्तीर्ण मुकुटों का विधान भी नवीन तथा सम्भवतः प्रतिमा-शास्त्र से प्रेरित उत्तरवर्ती परम्परा है। पात्रों की प्रकृति के अनुसार द्वि, त्रि या चतुष्कल नान्दी का विधान भी सर्वथा मौलिक तथा सम्भवत: उस उत्तरवर्ती परम्परा की देन है जिसमें नाटक के प्रमुख पात्र स्वयं मंच पर आकर नान्दी पाठ किया करते थे। इसी प्रकार समस्त पुरुष पात्रों को आठ श्रेणियों में बाँटकर एक वर्ग विशेष को किसी एक श्रेणी में रखना भी नाट्यशास्त्रीय परम्परा में एक नवीन प्रस्थापना है। नृत्योत्पत्ति की कथा को भी यहाँ एक नवीन आयाम दिया गया है। नाट्यशास्त्र व इतर ग्रंथ नृत्त का आविष्कारक भगवान शिवजी को मानते हैं किन्तु सूत्रकार ने इसे भगवान विष्णु से उद्‌भूत बताया है तथा उन्हीं से इसकी शिव तथा ब्रह्मा जी को प्राप्ति बतलाई है। यहाँ यह भी ध्यान दिए जाने योग्य है कि नाट्यशास्त्र से गहराई से प्रभावित होते हुए भी सूत्रकार आरम्भ में नाट्य का लक्षण बताने के उपरान्त कहीं नाट्य की चर्चा नहीं करता। नृत्त सूत्रकार का सर्वाधिक महत्व-पूर्ण व अभिनव प्रयास मुद्रा हस्तों व रहस्य मुद्राओं का नृत्य के सन्दर्भ में कथन है। मुद्रा शब्द मूलत: तंत्रशास्त्र का है तथा तंत्र की अनेक मुद्राएँ ज्यों की त्यों नृत्य में व्यवहृत हुई हैं किन्तु किसी ने भी उस आकर-सूत्र का उल्लेख नहीं किया है जहाँ से वे संग्रहीत हैं। इस दृष्टि से नृत्त सूत्र ने न केवल हस्ता-भिनय के मूल स्रोत की ओर संकेतित किया है अपितु दोनों शास्त्रों की मुद्राओं पर तुलनात्मक रूप से विचार करने का आधार भी प्रस्तुत किया है। इन समस्त प्रकरणों पर हमने परिशिष्ट भाग में अंकित अपनी टिप्पणियों में विस्तार से चर्चा की है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नृत्त सूत्र में ऐसा बहुत कुछ है जो नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अन्य ग्रंथों में विरल है तथा जो इसके स्वतन्त्र रूप से अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव कराता है।

नृत्त सूत्र नृत्य को ईश्वर आराधना का साधन मानता है। वह कहता है कि जो नृत्य से देवताओं का आराधन करता है वह सभी इच्छित वस्तुओं को पा जाता है और मोक्ष का उपाय खोज लेता है। अत: उसका अन्तिम सन्देश यह है कि दोनों लोकों को जीतने की इच्छा रखने वाले लोग नृत्य द्वारा यत्न करें। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ नाट्यशास्त्र नाट्य-नृत्यादि कर्म को नटों की आजीविका के रूप में ग्रहण करता है और इन व्यावसायिक

नाट्यकर्मियों की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये उद्योगरत दिखाई देता है वहाँ नृत्त सूत्र का स्पष्ट कथन है—

नृत्तेन बृत्ति यः कुर्यात् स तु वर्ज्यः प्रयत्नतः ।
कुशिलवाद्यैर्यैः कुर्यान्नृत्त विक्रयकारकाः ।।

नृत्य से वृत्ति (पेशा) करते हैं उन्हें प्रयत्नपूर्वक मना किया जाए । कुशीलव (कथक) आदि जो ऐसा करते हैं वे नृत्त को बेचने वाले हैं ।

इस प्रकार नृत्त सूत्र नृत्यकला को भौतिक स्तर से उठाकर आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है ।

प्रस्तुत संस्करण

विष्णु धर्मोत्तर पुराण की अनेक पाण्डुलिपियाँ तथा कतिपय प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हैं । इनमें से दो पाण्डुलिपि भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना में (संख्या-६१ संवत् १८७५-७६ तथा संख्या-६३, संवत् १८७५-७६), एक रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई में (संख्या-१७५८, बी० डी० २४६-५०) तथा दो सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सरस्वती भवन ग्रन्थागार में (केटलॉग वॉल्यूम ५, संख्या-१५७३१ तथा १५६६३) । सन् १६२४ ई० में सर्वप्रथम डा० स्टैला क्रैमरिश ने इसके चित्र-सूत्र का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कर विश्व भर का ध्यान इस ओर आकर्षित किया । किन्तु इससे पूर्व सन् १६१२ ई० [संवत् १६६६ वि०] में श्री वेंकटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई से सम्पूर्ण विष्णुधर्मोत्तर पुराण पत्राकार प्रकाशित हो चुका था । तदुपरान्त डा० प्रियबाला शाह ने इसके तृतीय खण्ड को सन् १६५८ ई० में महाराजा सयाजी राव विश्वविद्यालय, बड़ौदा से प्रकाशित किया । डा० अशोक चटर्जी शास्त्री ने इसके चित्रकला विषयक पाँच अध्यायों (चित्रसूत्रम्) को हिन्दी अनुवाद सहित सन् १६७१ ई० में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया । तदुपरान्त इस महापुराण के नृत्य सम्बन्धी अंश को संपादित कर इस "नृत्त-सूत्र" के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है । इसमें मूल-पाठ के लिए मुख्यतः बड़ौदा संस्करण का आधार बनाया गया है । हिन्दी अनुवाद के साथ ही इतर ग्रन्थों से इसमें वर्णित विषयों का साम्य-वैषम्य तथा वैशिष्ट्य प्रदर्शित करने वाली टिप्पणियाँ भी परिशिष्ट भाग में दी गई हैं । भारत की शास्त्रीय नृत्य शैलियों के क्षेत्र में शोध-कार्य का सूत्र-

पात हो चुका है। अतः नृत्य के नव अनुसंधान कर्त्ताओं तथा अध्येताओं के लिए आशा है उपयोगी सिद्ध होगा। धर्म और कला के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या तथा तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से तो इस स्वतन्त्र संस्करण की महती आवश्यकता थी ही साथ ही हम यह भी अपेक्षा करते हैं कि हमारे कला-कर्म में आज जिस तेजी से व्यावसायिक मनोवृत्ति पल्लवित हो रही है उसके मुकाबले पुनः नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में यह योगदान प्रदान करेगा। इत्यलम्।

—०—

विषयानुक्रमणिका

———

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

अथ श्री विष्णु धर्मोत्तरपुराणे तृतीय खण्डे चित्रसूत्रान्तर्गतं

नृत्तसूत्रम्

प्रथम अध्यायः

(विंशमोऽध्यायः)

नाट्य-नृत्त लक्षण—

मार्कण्डेयः—

परस्यानुकृतिर्नाट्यं नाट्यज्ञैः कथितं नृप ।
तस्य संस्कारकं नृत्तं भवेच्छोभाविवर्धनम् ॥१॥

हे राजन् ! नाट्यज्ञों ने पर की अनुकृति (दूसरे की नकल) को 'नाट्य' कहा है। उसका संस्कारक 'नृत्त' होता है, जो (नाट्य की) शोभा बढ़ाने वाला है ॥[1]

नृत्त भेद—

नृत्तं तु द्विविधं प्रोक्तं ताण्डवलास्याश्रयं सदा ।
द्वैविध्यं द्विविधस्यापि पुनरुक्तं नृपाधिप ॥२॥
आभ्यन्तरं च बाह्यं च बाह्यं लक्षणवर्जितम् ।
आभ्यन्तरं लक्षणवन्मङ्गल्यं तत्प्रयोगतः ॥३॥

नृत्त सदा दो प्रकार का कहा गया है—ताण्डव और लास्य । हे नृपाधिप ! इस द्विविध नृत्त को पुनः दो प्रकार का बताया गया है—आभ्यंतर और बाह्य । (इनमें से) आभ्यन्तर ही लक्षणयुक्त होता है तथा प्रयोगतः मंगलमय होता है ॥[2]

नाट्य स्थान—

लास्यं स्वच्छन्दतः कार्यं मण्डपे यदि वा बहिः ।
नाट्यं मण्डप एव स्यात् .... ॥

लास्य मण्डप में या बाहर कहीं भी स्वच्छन्दतापूर्वक किया जा सकता है। नाट्य मण्डप में ही होता है।

नाट्य-मण्डप भेद—

……………—मण्डपं द्विविधं भवेत् ॥४॥
आयतं चतुरस्रं तु द्वात्रिंशद्धस्तसम्मितम्।
चतुरस्रं तु कर्त्तव्यमायतं द्विगुणायुतम् ॥५॥

नाट्य-मंडप दो प्रकार का होता है—चतुरस्र (चौकोण) और आयताकार। चतुरस्र बत्तीस हाथ (की एक भुजा) के परिमाण वाला होता है। आयताकार इससे दुगने आकार का होता है।[३]

हीनाधिकं न कर्त्तव्यं दृष्टादृष्टफलप्रदम्।
हीने भवति सम्मर्दो विस्तीर्णो नाट्यगेययोः ॥६॥

इस दृष्टादृष्ट शुभप्रद (नाट्य मण्डप को उक्त परिमाण से) छोटा या बड़ा नहीं बनाना चाहिए। हीन (परिमाण) होने से वह सम्मर्द (पिचपिच या भीड़ भरा) और विस्तीर्ण होने से नाट्यगेय (अस्पष्ट ध्वनि वाला) हो जाता है।

व्यक्तिर्नैवोपपद्येत तस्मात्तौ परिवर्जयेत्।

इस प्रकार उक्त दोनों ही मनुष्यों के उपयुक्त न होने से वर्जनीय हैं।

पूर्वरंग विधि—

आदावेव तु कर्त्तव्यं त्रिदशानां तु पूजनम् ॥७॥
पूजनं जर्जरस्यापि वास्तुदैवतपूजनम्।
एवं कृत्वा ततो नाट्यं नान्दीपूर्वकमिष्यते ॥८॥

(नाट्य के) आरम्भ में देवताओं का पूजन करना चाहिए। फिर जर्जर-पूजन, वास्तु-देवों का पूजन आदि करके तब नान्दीपूर्वक नाट्यारम्भ करें।

ततो जवनिकाक्षेपैः प्रतिपात्र प्रवेशनम्।
प्रवेशनिर्गमौ कार्यौ कृत्वा कार्यस्य सूचनम् ॥९॥

तब जवनिका-क्षेप (पर्दा गिराने) के द्वारा प्रत्येक पात्र का प्रवेश होना चाहिए। (ध्रुवाओं के द्वारा) कार्य की सूचना करने के उपरान्त ही (पात्रों का) प्रवेश या निर्गम कराना चाहिए।[४]

नान्दीपाठ—

पुष्पाञ्जलीः प्रदातव्यो नान्द्यन्ते ब्रह्मपूजनम् ।
पाठ्ये गीते समासक्तः पात्रतुल्यः परिक्रमः ।
चतुष्कलो नायकानां मध्यानां त्रिकलो भवेत् ॥१०॥

नान्दीपाठ के अन्त में ब्रह्मा का पूजन कर पुष्पांजली प्रदान करना चाहिए । (यह नान्दी) गद्य-पद्य युक्त पात्रों के चरित्रानुरूप नायकों की चतुष्कल व मध्यम पात्रों की त्रिकल होती है ।[५]

द्विकलश्चाधमानां स्यान्मध्यमे नृपकर्मणि ।
एकाधिकोनं सर्वेषां कर्त्तव्यं कार्ययोगतः ॥११॥

अधमों की (नान्दी) द्विकल होती है । इसी प्रकार एक कला अधिक या कम करके सभी (पात्रों) के लिए मध्यम स्वर में नान्दी योजित करें ।

पात्र लक्षण —

देवा धीरोद्धता ज्ञेया उद्धता दानवादयः ।
नृपाश्च धीरललिता धीरास्तदनुजीविनः ॥१२॥

देवताओं को धीरोद्धत जानें । दानव आदि उद्धत, राजा धीर ललित और उनके अनुचर धीर हैं ।

प्रशान्तधीरा ऋषयः प्रशान्तास्तत्पदानुगाः ।
धीरोदात्तास्तथा विप्रा उदात्ता वणिजो मता ॥१३॥

ऋषिगण धीरप्रशान्त हैं, उनका अनुगमन करने वाले प्रशान्त हैं, ब्राह्मण धीरोदात्त हैं तथा वणिकों को उदात्त माना गया है ॥[६]

एवं विधाश्च कथिता एतेषामेव योगतः ।

इस प्रकार इन्हें योगपूर्वक कहा है ।

अभिनय भेद—

आहार्यः सात्त्विकश्चैव वाचिकोऽङ्गिक एव च ॥१४॥
चतुश्प्रकारोऽभिनयः कर्त्तव्यो नाट्यकर्मणि ।

नाट्यकर्म में आहार्य, सात्त्विक, वाचिक और आंगिक चारों प्रकार के अभिनय की योजना करें ।

आहार्य अभिनय—

आहार्यः प्रतिशीर्षादिद्भिः कृतो वेश उच्यते ॥१५॥

प्रतिशीर्ष (मुखौटा) आदि के द्वारा दूसरे प्रकार का किया गया वेश 'आहार्य' कहलाता है ।

वेश विधि—

धीरोद्धतानां वेशः स्यान्न चात्यर्थसमुल्वणः ।
उद्धतश्चोद्धतानां स्याद्राज्ञां ललित इष्यते ॥१६॥

धीरोद्धत पात्रों का वेश अधिक अर्थसमुल्वण नहीं होता । उद्धत पात्रों का उद्धत और राजाओं का ललित वेश होता है ।

प्रतिनायक वेशस्तु कर्त्तव्यश्च तथोद्धतः ।
अन्येषां सदृशो वेशो देशकर्माश्रयोभवेत् ॥१७॥

प्रतिनायक का वेश उद्धत करना चाहिए । अन्य पात्रों का वेश देश-कर्म के अनुसार करना चाहिए ।

अश्वादयः कर्त्तव्याश्चर्मकाष्ठादिभिः समाः ।

घोड़े आदि को चमड़ा, लकड़ी आदि से बनायें ।

सात्त्विक अभिनय—

अतः परं प्रवक्ष्यामि सात्त्विकाभिनयं तव ॥१८॥
अश्रु - प्रलय - रोमाञ्च - स्वेद - स्पन्दन - स्तम्भतः ।
वैवर्ण्यस्वरभेदैश्च सात्त्विकाभिनयोभवेत् ॥१९॥

इसके बाद तुम्हें सात्त्विक अभिनय बताता हूँ । अश्रु, प्रलय (बेहोश होना), रोमांच, स्वेद (पसीना), स्पन्दन, स्तम्भित होना, वैवर्ण्य (रंग बदलना) और स्वर भेद (आवाज बदल जाना) से सात्त्विक अभिनय होता है ॥

वाचिक अभिनय—

वाचिको वाचया प्रोक्तो वक्ष्याम्याङ्गिकमुत्तरे ।
नाट्यवृत्तं तु कर्त्तव्यं हर्षस्थाने सदा बहु ॥२०॥
शोकस्थाने न कर्तव्यं किञ्चिद्वा कारयेत् तथा ।

वाचिक अभिनय वाणी (बोलने) से कहा गया है । आंगिक अभिनय बाद में बताऊँगा ।

हर्ष-स्थान में सदैव बहुशः नाट्यप्रयोग किए जाना चाहिए, किन्तु शोक-स्थान पर इसका आयोजन नहीं होना चाहिए अथवा (आवश्यक होने पर) थोड़ा करना चाहिए।

रेचक भेद—

चतुर्धा रेचकं प्रोक्तं कटिपादाङ्घ्रिकाश्रयम्।

कटि (कमर), पाद (पैर), अंघ्रि (हाथ ?) के आश्रय से चार प्रकार के रेचक कहे गए हैं।[८]

चारी भेद—

रेचकान्या महाचारी चारी च द्विधा मता।
सुकुमाराङ्गवाक्चेष्टा चारी भवति यादव ॥२२॥
ऐतैरभ्युत्थितैर्ज्ञेया महाचारी नरेश्वर।

रेचकों से ही दो प्रकार की चारी व महाचारी होती है। सुकुमार अंग, वाणी और चेष्टा से चारी होती है। हे नरेश्वर! इन्हीं से अभ्युत्थित महाचारी जानें।[९]

मंडल भेद—

मण्डलानि दशैव स्युश्चारी संयोगजानि तु ॥२३॥

चारी के संयोग से दस मण्डल उत्पन्न होते हैं।[१०]

आकाशिकी मण्डल—

अतिक्रान्तं विचित्रं च तथा ललितसञ्चरम्।
सूचीविद्धं दण्डपादं विहृतालातसंज्ञिते ॥२४॥
वामबद्धं सललितं क्रान्तं चाकाशगामी तु।

अतिक्रान्त, विचित्र, ललित संचर, सूचीविद्ध, दण्डपाद, विहृत, अलात, वामबद्ध, सललित तथा क्रान्त—ये दस आकाशिकी मण्डल होते हैं।

भौम मण्डल—

मण्डलानि दशान्यानि श्रृणु भौमानि पार्थिव ॥२५॥
भ्रमरास्कन्दिते स्यातामावर्तं च ततः परम्।
समासरितमित्याहुरेडकाक्रीडितं तथा ॥२६॥
अड्डितं शकटास्यं च तथा ह्यर्धमिति स्मृतम्।
पिष्टकुट्टं च विज्ञेयं तथा चाषगतं पुनः ॥२७॥

हे पार्थिव ! अन्य दस भूमि मण्डल सुनो—भ्रमर, आस्कन्दित, आवर्त, समासरित, एडकाक्रीड़ित, अड्डित, शकटास्य, अर्ध, पिष्टकुट्ट व चाषगत ।

अङ्गहार—

अथाङ्गहारान्वक्ष्यामि नामतस्तान्निबोध मे ।
स्थिरहस्तोऽङ्गहारस्तु तथैवाक्षिप्तकः स्मृतः ॥२८॥
उद्घाटितस्तृतीयः स्यात्तथा चान्योऽपराजितः ।
मत्ताक्रीड़ोऽथ विष्कम्भस्तथा स्वस्तिकरेचितः ॥२९॥
वृश्चिकापसृतश्चैव तलमन्दावसर्पितः ।
मत्तल्लीस्खलितश्चैव भ्रमरः पार्श्वस्वस्तिकः ॥३०॥
मदविलसितश्चैव विक्षिप्तो गतिमण्डलः ।
वैशाखरेचितश्चैव परिवृत्ताकरेचितः ॥३१॥
उद्वर्तकः परिच्छिन्नो रेचकोऽथ बलाहकः ।
सम्भ्रान्तो वाङ्गिकश्चैव रतिक्रीड़ो ह्यलातकः ॥३२॥
विद्युद्भ्रान्तः परावृत्तः पार्श्वच्छेदसमन्वितः ।
आक्षिप्तो रेचितश्चैव सौम्योऽथकरितस्तथा ॥३३॥
सूचीविद्धोऽपविद्धश्च विलापोऽर्धनिकुट्टितः ।
षट्त्रिंशदेते संप्रोक्ता ह्यङ्गहारा यदूत्तम ॥३४॥

अब अंगहारों को बताता हूँ, उन्हें मुझसे नामतः जानें । स्थिरहस्त, आक्षिप्तक, उद्घाटित, तृतीय, अपराजित, मत्तक्रीड़, विष्कम्भ, स्वस्तिकरेचित, वृश्चिक, अपसृत, तलमन्द, अवसर्पित, मत्त, स्खलित, भ्रमर, पार्श्वस्वस्तिक, मदविलसित, विक्षिप्त, गति मण्डल, वैशाखरेचित, परिवृत्तकरेचित, उद्वर्तक, परिच्छिन्न, रेचक, बलाहक, सम्भ्रान्त, आंगिक, रतिक्रीड़, अलातक, विद्युद्-भ्रान्त, परावृत्त, पार्श्वच्छेद, आक्षिप्त, रेचित, सौम्य, करित, सूचीविद्ध, अप-विद्ध, विलाप व अर्धनिकुट्टित—ये ३६ अंगहार, हे यदूत्तम ! कहे ।[११]

करण—

एतेषां संप्रवक्ष्यामि करणानि यथाक्रमम् ।
हस्तपाद प्रचारश्च यथायोज्यः प्रयोक्तृभिः ॥३५॥

अब यथाक्रम करणों का वर्णन करूँगा । इनके प्रयोक्ताओं को जैसे हस्त, पाद प्रचार करना चाहिए ।

सर्वेषामङ्गहाराणां निष्पत्तिः करणं भवेत् ।
तान्यहं संप्रवक्ष्यामि नामभिः कर्मभिस्तथा ॥३६॥

सभी अंगहारों की निष्पत्ति करण से ही होती है, जिन्हें मैं नाम और कर्मतः बतलाता हूँ ।

हस्तपाद समायोगो नृत्तस्य करणं भवेत् ।
द्वे नृत्तकरणे चैव भवेतां नृत्तमातृका ॥३७॥

हस्त-पाद का समायोग ही नृत-करण होता है । दो नृत्त करणों के योग से नृत्तमातृका होती है ।

त्रिभिः कलापकंश्चैव चतुर्भिः खण्डकः स्मृतः ।'
पञ्चैव करणानि स्युः संघातक इति स्मृतः ॥३८॥

तीन से कलापक, चार से खण्डक और पाँच करणों के योग से संघातक जानें ।

षड्भिर्वा सप्तभिर्वापि अष्टभिर्नवभिस्तथा ।
करणैरिह 'संयुक्ता अङ्गहारा इतिस्मृतः ॥३९॥

छः; सात, आठ या नौ करणों को मिला देने से अङ्गहार निर्मित होते हैं ।

एतेषां चैव वक्ष्यामि नामान्यहमतः परम् ।

इसके बाद मैं इनके नाम बतलाता हूँ ।

तलपुष्पापविद्धे द्वे लीनं स्वस्तिक रेचितम् ॥४०॥
मण्डलं स्वस्तिकं चैव ऊरुवृत्तं निकुट्टकम् ।
सूचीविद्धं कटिच्छिन्नमर्धरेचितमेव च ॥४१॥
वक्षः स्वस्तिकमुन्मत्तं स्वस्तिकं पृष्ठगं पुनः ।
दिक्स्वस्तिकमलाताख्यमर्धसूचिकटिसमम् ॥४२॥
आक्षिप्तरेचितं क्षिप्रमर्धस्वस्तिक संचितम् ।
भुजङ्गत्रासितं चैव ऊर्ध्वजानु निकुञ्चितम् ॥४३॥
मत्तल्लीत्वर्धमत्तल्ली स्यादरेचक निकुट्टकम् ।
पादविद्धं तडिद्भ्रान्तं वलितं घूर्णितं तथा ॥४४॥
ललितं दण्डपक्षं च भुजङ्गत्रस्त रेचितम् ।
नूपुरं रेचितं चैव भ्रमरं चतुरं तथा ॥४५॥
भुजङ्गाञ्चित मन्यत्स्याच्छिन्नं वृश्चिकरेचितम् ।
लता वृश्चिकं मन्यत्स्याच्छिन्नं वृश्चिकरेचितम् ॥४६॥

वृश्चिकं व्यंसितं चैव सूचीविद्धकमेव च।
ललाटतिलकं चैव कुञ्चितं चक्रमण्डलम् ॥४७॥
उरोमण्डलमाक्षिप्तं लता लसितमार्गलम्।
विक्षिप्तं भ्रमितं चैव विलासं वानरप्लुतम् ॥४८॥
परिवृत्तं निवृत्तं च पार्श्वाक्रान्तं निकुञ्चितम्।
अतिक्रान्तमवक्रान्तं दोलापादं विवर्तितम् ॥४९॥
नागप्रक्रीडितं चैव विप्लुतं गरुडप्लुतम्।
गण्डसूची परिक्षिप्तं पार्श्वजानुकमेव च ॥५०॥
गृद्धावलीनकं लीनं विष्णुक्रान्तमजप्लुतम्।
आक्रान्तं मण्डितं चैव मयूर ललितं नतम् ॥५१॥
सर्पितं दोलपादं च हरिणप्लुतमेव च।
प्रेङ्खोलितं नितम्बंच स्खलितं करिहस्तकम् ॥५२॥
प्रसर्पिततलं चैव सिंहविक्रीडितं तथा।
वृषभक्रीडितं चैव गङ्गावतरणं तथा ॥५३॥
अष्टोत्तर शतं ह्येतत् करणानां प्रकीर्तितम्।

तलपुष्प, अपविद्ध, लीन, स्वस्तिकरेचित, मण्डल स्वस्तिक, ऊरुवृत्त, निकुट्टक, सूचीविद्ध, कटिच्छिन्न, अर्धरेचित, वक्षस्वस्तिक, उन्मत्त, स्वस्तिक, पृष्ठ स्वस्तिक, दिक्स्वस्तिक, अलात, अर्ध-सूची, कटिसम, आक्षिप्त रेचित, क्षिप्र, अर्ध स्वस्तिक, संचित, भुजंगत्रासित, ऊर्ध्वजानु, निकुंचित, मत्तल्ली, अर्धमत्तल्ली, रेचक निकुट्टक, पादविद्ध, तडिद्भ्रान्त, वलित, घूर्णित, ललित, दण्डपक्ष, भुजंगत्रस्त रेचित, नूपुर, रेचित, भ्रमर, चतुर, भुजङ्गाञ्चित, छिन्न, वृश्चिकरेचित, लतावृश्चिक, वृश्चिक, व्यंसित, सूचीविद्ध, ललाटतिलक, कुंचित, चक्रमण्डल, उरोमण्डल, आक्षिप्त, लतालसित, अर्गल, विक्षिप्त, भ्रमित, विलास, वानरप्लुत, परिवृत्त, निवृत्त, पार्श्वाक्रान्त, निकुंचित, अतिक्रान्त, अवक्रान्त, दोलापाद, विवर्तित, नागप्रक्रीडित, विप्लुत, गरुडप्लुत, गण्डसूची, परिक्षिप्त, पार्श्वजानु, गृद्धावलीनक, लीन, विष्णुक्रान्त, अजप्लुत, आक्रान्त, मण्डित, मयूरललित, नत, सर्पित, दोलपाद, हरिणप्लुत, प्रेंखोलित, नितम्ब, स्खलित, करिहस्त, प्रसर्पिततल, सिंहविक्रीडित, वृषभक्रीडित और गंगावतरण—ये १०८ करण बताए गए हैं ॥[१२]

नृत्त भेद—

सुकुमारं तथाविद्धं नृत्तं द्विविधमुच्यते ॥५४॥
उद्धतं पुरुषप्रायं स्त्रीप्रायं सुकुमारकम्।

नृत्त दो प्रकार का कहा गया है—सुकुमार और आविद्ध (उद्धत)। पुरुष-प्राय: नृत्त उद्धत व स्त्रीप्राय: नृत्त सुकुमार होता है।[13]

पिण्डीबन्ध—

देवचिन्हकृताकारा पिण्डी भवति पार्थिव ॥५५॥

पिण्डी देव-चिन्ह के आकार की होती है।[14]

वृत्तियां—

भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा।
चतस्रो वृत्तय: प्रोक्ता वाक्प्रधाना तु भारती ॥५६॥

वृत्तियाँ चार कही गई हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी व आरभटी। (इनमें से) भारती वृत्ति वाक्-प्रधान होती है।

तथा वीररसप्राया विज्ञेयासात्वती नृप
तथा रौद्रप्रचारा च भवत्यारभटी सदा ॥५७॥

इसी प्रकार हे नृप! सात्वती को वीर रस प्रधान जानो। और आरभटी में सदैव रौद्ररस का प्रचार रहता है।

शृंङ्गार हास्य बहुला तथा भवति कैशिकी।

कैशिकी वृत्ति शृंगार व हास्य बहुल होती है।[15]

प्रवृत्ति—

आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवात्र मागधी ॥५८॥
पञ्चालमध्यमाचेति प्रवृत्तिस्तु चतुर्विधा।

प्रवृत्ति भी चार हैं—आवन्ती, दाक्षिणात्या, मागधी और पंचालमध्यमा।

वेशभाषानुकरणं तथाचार - प्रवर्तनम् ॥५९॥
प्रवृत्तिरिति विख्याता वृत्तीनामाश्रयास्तु ताः।

वेश तथा भाषा का अनुकरण और (देश-देश के) आचार का प्रवर्तन ही प्रवृत्ति के रूप में विख्यात है, जो वृत्ति के आश्रित हैं।[16]

धर्मी—

नाट्यलोकाश्रया धर्मिधर्माश्चद्विविधा मताः ॥६०॥

नाट्य और लोक के आश्रय से धर्मी व धर्म भी दो प्रकार के माने गए हैं।[17]

सिद्धि—

सिद्धिश्च द्विविधा नाट्ये दैविकीमानुषी तथा।
व्यायामान्मानुषी तत्र दैवी देवप्रसादजा ॥६१॥

नाट्य में दो प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं—दैविकी और मानुषी। व्याया-याम (अभ्यास) से मानुषी और देवकृपा से उत्पन्न दैवी सिद्धि होती है।[१८]

रसेन भावेन समन्वितं च
तालानुगं काव्यरसानुगं च।
गीतानुगं नृत्तमुशन्ति धन्यं
सुखप्रदं धर्मविवर्धनं च ॥६२॥

रस और भाव से समन्वित, ताल, काव्य-रस और गति का अनुगमन करने वाला नृत्य धन्य है, सुखप्रद है और धर्म को बढ़ाने वाला कहा गया है।

(इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्रसंवादे सामान्याध्यायः)

●

द्वितीय अध्याय

(एकविंशोऽध्यायः)

शय्यास्थान

मार्कण्डेयः—

समाकुञ्चितकं चैव प्रसारित विवर्तिते।
उद्वाहितं नतं षोढाशय्यास्थानानि निर्दिशेत् ॥१॥

सम, आकुञ्चित, प्रसारित विवर्तित, उद्वाहित और नत—ये छः शय्या स्थान बताए गए हैं।[१९]

समस्थान—

उत्तानितं मुखं चैव स्रस्तमुक्तकरं तथा।
समं नाम प्रसुप्तस्य स्थानकं तु विधीयते ॥२॥

ऊपर की ओर उठा हुआ मुँह तथा ढीले छोड़े हुए हाथ से प्रसुप्त (सोए हुए) का 'सम' नामक स्थानक जानना चाहिए।

आकुंचित स्थान—

सर्वैराकुञ्चितैरङ्गैः शय्याविद्धे च जानुनी।
स्थानमाकुञ्चितं नाम शीतार्तानां प्रयोजयेत् ॥३॥

सभी आकुंचित (सिकुड़े) अंगों और शय्याविद्ध जानुओं से (निर्मित) "आकुंचित" नामक स्थान शीतार्तों के लिए प्रयोग करें।

प्रसारित स्थान—

एक भुजं समाधाय संप्रसारित जानुकम्।
स्थानं प्रसारितं नाम सुख सुप्तस्य कारयेत् ॥४॥

एक भुजा का टेका लेकर, जानु (घुटना) फैलाकर सुख पूर्वक सोए हुए व्यक्ति को 'प्रसारित' नामक स्थान करना चाहिए।

विर्वातत स्थान—

अधोमुखे स्थितं चैव विवर्तितमिति स्मृतम्।
शस्त्रक्षते मृते क्षिप्ते मत्तोन्मत्तेषु तद्भवेत् ॥५॥

अधो (नीचे) मुख स्थित होने पर 'विवर्तित' नामक स्थान जानें। शस्त्र-क्षत, मृत, क्षिप्त (फेंका हुआ), मत्त और उन्मत्त (अवस्था में) यह होता है।

उद्वाहित स्थान—

अंसोपरि शिरः कृत्वा कूर्परं क्षोभमेव च।
उद्वाहितं तु विज्ञेयं लीलासंवेशने प्रभोः ॥६॥

कंधे पर सिर करके और डोलती हुई कोहनी से 'उद्वाहित' स्थान जानें जो प्रभु के लीला-संवेशन में प्रयोज्य है।

नत स्थान—

तस्या यदेतत्प्रसृतं तु जङ्घे स्रस्तौ करौ तं नतमुद्दिशन्ति।
आलस्यखेदश्रममोक्षणेषु कार्यस्तु तस्याभिनयप्रयोगः ॥७॥

उसमें जब (जानु) फैला दिये जायें तथा दोनों हाथ ढीले छोड़ दिए जायें तब 'नत' स्थान कहा जाता है। आलस्य, खेद, श्रम व मोक्षण के अभिनय में इसका प्रयोग करना चाहिए।

(इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्रसंवादे शय्यास्थानं नाम)

तृतीय अध्याय

द्वाविंशोऽध्यायः

उपवेशन स्थान

मार्कण्डेयः—

स्वस्थं मन्दालसं क्लान्तं स्रस्तालसमथापि च ।
विष्कम्भितमुत्कटकं मुक्तजानुं तथा समम् ॥१॥
जानुगतं विमुक्तं च स्थानकान्युपवेशने ।

स्वस्थ, मन्दालस, क्लान्त, स्रस्तालस, विष्कम्भित, उत्कट, मुक्तजानु, सम, जानुगत और विमुक्त—(ये दस) उपवेशन (बैठने के) स्थानक हैं ।[२०]

स्वस्थ आसन—

विष्कम्भाञ्चितौ पादौ वक्षः किञ्चित् समुन्नतम् ॥२॥
हस्तौ कट्यूरुविन्यस्तौ स्वस्थौ स्वस्थोपवेशने ।

दोनों अंचित पैर फैलाकर, वक्ष किंचित् समुन्नत कर तथा दोनों हाथों को कमर पर रखने से स्वस्थ आसन होता है, जो स्वस्थ (आराम से) बैठने के भाव में प्रयुक्त होता है ।[२१]

मन्दालस आसन—

एकः प्रसारितः पादः पादस्त्वन्यश्चैवासनाश्रितः ॥३॥
पार्श्वनतं तथा कार्यं स्थानं मन्दालसं तु तत् ।

एक पैर फैला हुआ, दूसरा पैर आसन पर टिका हुआ तथा बगल में झुके हुए—इस प्रकार "मन्दालस आसन" करना चाहिए ।[२२]

चिन्तायां तथौत्सुक्ये निर्वेदे विरहे तथा ॥४॥
विषादेषु सदा देयं स्थानमेतत्प्रयोक्तृभिः ।

चिन्ता, औत्सुक्य, निर्वेद, विरह तथा विषाद में प्रयोक्ताओं को सदा इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए ।

क्लान्त आसन—

चिबुकापाश्रितौ हस्तौ बाहुशीर्षाञ्चितं शिरः ।।५।।
सबाष्पाभिनयं चैव विज्ञेयं क्लान्तमासनम् ।

चिबुक (ठोढ़ी के) नीचे दोनों हाथ टिके हों, सिर कंधे पर झुका तथा अश्रु सहित अभिनय से "क्लान्त आसन" जानना चाहिए ।[23]

बलिना निगृहीतस्य रिपुणा खण्डितस्य च ।।६।।
शोकग्लानस्य च तथा स्थानमेतद्विनिर्दिशेत् ।

बली द्वारा पकड़े जाने का, शत्रु द्वारा खंडित का, शोक व ग्लानि का तथा ऐसे ही (अन्य भावों को) इस स्थानक से निर्देशित करना चाहिए ।

स्रस्तालस आसन—

स्रस्तौ हस्तौ विमुक्तं च शरीरमलसं तथा ।।७।।
खेदालसं तथा चक्षुर्यत्र स्रस्तालसं तु तत् ।

स्रस्त (ढीले छूटे हुए) दोनों हाथ, ढीला व अलसाया शरीर और खेद से अलसाए नेत्र जहाँ हों वह "स्रस्तालस आसन" है ।

श्रमे ग्लानौ मदे चैव मूर्च्छायां व्यथिते तथा ।।८।।
मोहे प्राणभये चैव स्थानमेतत्प्रयोजयेत् ।

श्रम, ग्लानि, मद, मूर्च्छा, व्यथा, मोह व प्राणभय में इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए ।

विष्कम्भित आसन—

विष्कम्भाञ्चितौ पादौ ऊरू विष्कम्भितौ भुजौ ।।९।।
निमीलितं तथा चक्षुः स्थाने विष्कम्भनामनि ।

'विष्कम्भित' नामक स्थान में दोनों पैर, जंघाएँ तथा भुजाएँ अंचित (फैली हुई) और दृष्टि निमीलित रहती है ।

स्ववक्षोगतया दृष्ट्या योगे ध्याने विधीयते ।।१०।।
स्वभावसंस्थया चैव सभ्यानामुपवेशने ।

अपने वक्ष की ओर गई हुई दृष्टि से योग, ध्यान, आत्मस्थता तथा सभ्य जनों के बैठने के भाव में इस आसन का विधान करना चाहिए ।

सम आसन—

समौ पादौ समाधाये सम यदुपदिश्यते ।।११।।

दोनों पैर सम स्थिति में रखकर 'सम आसन' दिखाना चाहिए ।

उत्कट आसन—

अस्पृष्ट भूतलं चैव ज्ञेयमुत्कटासनम् ।

पृथ्वी को न छूती हुई (एड़ी से) 'उत्कट' जानें ।[२४]

पित्र्येसमाधौजप्ये च होमादिकरणेषु च ।।१२।।

एतत्स्थानं विधातव्यं यथागमन कर्मणि ।

पितरों को पिण्डदान, समाधि, जप, होम, आदि करने, (दिव्य लोकों में) जाने आदि कर्मों में इस स्थान का विधान करना चाहिए ।

मुक्तजानु आसन—

एकं जानु यदास्यैव महीपृष्ठे विधीयते ।।१३।।

ज्ञातव्यं भूमिप श्रेष्ठ मुक्तजानुकमासनम् ।

इसमें (उत्कट में) जब एक जानु (घुटना) भूमितल पर टिका दिया जाए तब हे राजन् ! "मुक्त जानु आसन" जानना चाहिए ।

एतत्कृतव्यलीकानां प्रियाणां संप्रसादने ।।१४।।

मार्जने कुट्टिमानां च तथा भूम्यनुलेपने ।

रूठे प्रियजनों को मनाने, कच्चे आँगन को साफ़ करने और लीपने में इसे प्रयुक्त करें ।

जानुगत आसन—

महीगताभ्यां जानुभ्यां स्थानं जानुगतं भवेत् ।।१५।।

राज्ञां विज्ञापने कार्यं सुराणां चैव पूजने ।

पृथ्वी पर टिके हुए घुटनों से "जानुगत" आसन होता है । राजाओं को सूचना देने तथा देवताओं के पूजन में इसका प्रयोग करना चाहिए ।

विमुक्त आसन—

भूमौ यदूर्ध्वपतनं तद्विमुक्तमिति स्मृतम् ।।१६।।

प्रहारे तत्प्रयोक्तव्यमावेगे क्रन्दने तथा ।

भूमि पर ऊपर से गिरने को "विमुक्त" कहा गया है । प्रहार, आवेग, क्रन्दन आदि में इसका प्रयोग करना चाहिए ।

आसन विधि—

भद्रासनं तु देवानां राज्ञां सिंहासनं भवेत् ।।१७।।
रूप्यासनं तु दातव्यं सांवत्सरपुरोधसोः ।

देवताओं का भद्रासन व राजाओं का सिंहासन होता है। दैवज्ञ और कुल पुरोहितों को रूप्यासन देना चाहिए।

वेत्रासनममात्यानां मन्त्रिणां तु तथा भवेत् ।।१८।।
मण्डासनं तु दातव्यं सेनानीयुवराजयोः ।

अमात्यों और मंत्रियों का वेत्रासन होता है। सेनापति व युवराज को मण्डासन देना चाहिए।[२४]

मुनीनां च द्विजानां च तथा सब्रह्मचारिणाम् ।।१९।।
बृसी देया महाराज ये चान्ये नियमे स्थिताः ।

हे महाराज ! मुनियों, ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों और अन्य नियमों का पालन करने वालों को कुशासन देना चाहिए।

स्थानीयाः पुरुषा ये च मुख्याः पौराश्चये तथा ।।२०।।
वणिजश्च् तथा मुख्यास्तेषां देया तु पीठिका ।

स्थानीय पुरुषों, पौरमुख्यों, वणिकों तथा अन्य मुख्यजनों को पीठिका (लकड़ी की चौकी) देना चाहिए।

वेशस्त्रीणां कुमाराणां तथा भृत्यजनस्य च ।।२१।।
मसूरकं तु दातव्यं शेषे भूम्यासनं भवेत् ।

वेश्याओं, कुमारों व भृत्यजनों की स्त्रियों को मसूरक (तकिए वाला आरामदेह आसन) देना चाहिए। शेष लोगों का भूमि पर ही आसन होता है।

सिंहासने विना राजन् गृहे स्वच्छन्दमासनम् ।।२२।।

हे राजन ! घर में बिना सिंहासन के स्वच्छन्द आसन होता है।

नैकासनं स्याद् गुरुणा तु राजन्
गजे रथे वापि शिलातले च ।
नैकासनं स्याद् गुरुणा तु दोषो-
ऽथवातिदीर्घे फलके च नित्यम् ।।२३।।

हे राजन ! यद्यपि गुरुजनों के साथ सदा एक ही आसन पर नहीं बैठा जाता, किन्तु (विशेष अवस्था में) हाथी, रथ, शिलातल या बड़ी पालकी में उनके साथ एक ही आसन पर बैठने से दोष नहीं लगता।

(इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय वज्रसंवादे आसनाध्यायो नाम)

●

चतुर्थ अध्याय

(त्रयोविंशोऽध्याय:)

पुरुष स्थानक

मार्कण्डेय:—

वैष्णवं समपादं च वैशाखं मण्डलं तथा ।
प्रत्यालीढमथालीढं षट् पुंसां स्थानकानितु ।।१।।

पुरुषों के छ: स्थानक ये हैं—वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ़ व प्रत्यालीढ़ ।[२-६]

वैष्णव स्थान—

स्वभाव संश्रित: पाद: त्र्यश्र: पक्षगतोऽपर ।
किञ्चिदाञ्चित जङ्घस्य वैष्णवं स्थानमुच्यते ।।२।।

एक पैर स्वाभाविक रूप से खड़ा हो व दूसरा तिरछा व बगल में स्थित हो तथा जंघा भी थोड़ी सी फैली हो तो वैष्णव स्थान कहा जाता है ।

स्थानेनानेनकर्त्तव्यस्संलापस्तु स्वभावत: ।

इस स्थान से स्वाभाविक बातचीत करें ।

समपाद स्थान—

समपादं तु विज्ञेयं समैस्तालान्तरै: पदै: ।।३।।

एक ताल (बालिश्त) के अन्तर से स्वाभाविक रूप से रखे हुए पैरों से समपाद स्थान जानें ।

स्वभाव सौष्ठवोपेतं रुद्रब्रह्मादि दैवतम् ।
अनेन कार्यं स्थानेन विप्रमङ्गलकारणम् ।।४।।

रुद्र ब्रह्मा आदि देवता तथा मंगलकारण विप्रों को इस स्थानक द्वारा स्वाभाविक सौष्ठव से युक्त होकर प्रदर्शित करना चाहिए ।

२

वल्गनं पक्षिणां च वरकौतुकमेव च ।
स्वस्थानां स्यन्दनस्थानां विमानस्थायिनामपि ॥५॥
लिङ्गस्थानां व्रतस्थानां स्थानमेतत्प्रयोजयेत् ।

पक्षियों के उड़ने, परम कौतुक, आत्मस्थ, रथ में स्थित, विमान में स्थित, लिंगस्थ तथा व्रतस्थों के लिए भी इस स्थानक का प्रयोग करना चाहिए ।

वैशाख स्थान—

द्वौतालावर्धतालं च पादयोरन्तरं भवेत् ॥६॥
अञ्चिते यत्र जङ्घे तु पादौ पक्षस्थितौ तथा ।
वैशाखं नाम तत्स्थानं स्कन्दश्चैवात्र देवता ॥७॥

दोनों पैरों में २½ ताल का अन्तर हो, जंघाएँ अंचित (फैली) हों, दोनों पैर अपनी-अपनी ओर स्थित हों तब 'वैशाख स्थान' होता है । इसके देवता स्कन्द हैं ।[२७]

स्थानेनानेन कर्त्तव्यं अश्वानां वाहनं बुधैः ।
व्यायामो निर्गमश्चैव प्रवेशो धनुषस्तथा ॥८॥

इस स्थानक से बुद्धिमानों द्वारा घोड़े आदि की सवारी, व्यायाम, निर्गम, प्रवेश व धनुष दिखाना चाहिए ।

मण्डल स्थान

अतः परं मण्डलं स्यात् त्रितालान्तरमेव च ।
कटी जानु समा यत्र पादौ पक्षस्थितौ यथा ॥९॥

इसके बाद, तीन ताल के अन्तर से अपनी-अपनी ओर रखे दोनों पैर तथा कटि व जानु सम होने से 'मण्डल स्थान' होता है ।[२८]

धनुर्वज्रप्रहरणं मण्डलेन प्रयोजयेत् ।
वाहनं कुञ्जराणां तु नृत्ते चोद्वहनक्रिया ॥१०॥

धनुष या वज्र का प्रहार, हाथियों की सवारी, नृत्त में उद्वहन क्रिया में इसका प्रयोग करें ।

आलीढ स्थान—

अस्यैव दक्षिणं पादं पञ्चताल प्रसारयेत् ।
आलीढं नाम तत्स्थानं रुद्रकाल्यत्र दैवतम् ॥११॥

इस (मण्डल स्थान) में ही दाहिना पैर पाँच ताल के अन्तर तक फैलाने पर 'आलीढ स्थान' होता है। रुद्रकाली इसकी देवता हैं।

अनेन कार्या स्थानेन सर्वत्रोद्धरण क्रिया।
रौद्रपादप्रचारस्तु सङ्ग्रामस्य निरूपणम् ॥१२॥

इस स्थानक से सर्वत्र उद्धरण-क्रिया, रौद्र पाद-प्रचार व संग्राम का निरूपण करना चाहिए।

सिंहासनाद्यभिनयं चैव शत्रुसंधानमेव च।
खड्गयुद्धे नियुद्धे च मण्डलभ्रमणे तथा ॥१३॥
उत्तरोत्तर संजल्पे रोषामर्ष समुद्भवे।
मल्लानां चैव संस्फोटे शत्रूणां च निरूपणे ॥१४॥
तथाभिद्रवणं चैव शस्त्राणां च विमोक्षणम्।

सिंहासन आदि का अभिनय, शत्रु को ढूंढ़ना, उसे निशाना बनाना, तलवार की लड़ाई, पैदल लड़ाई, गोलाई से घूमना, एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर बातें करना, क्रोध और असहनीयता प्रकट करने, पहलवानों के टकराने, शत्रु का निरूपण करने, बहुत द्रवित होने व शस्त्र छोड़ने में भी इसका प्रयोग होता है।

प्रत्यालीढ स्थान—

कुञ्चितं दक्षिणं कृत्वा वामं पादं प्रसार्य च ॥१५॥
आलीढं परिवर्तस्तु प्रत्यालीढमिति स्मृतम्।

दाहिने पैर को सिकोड़ कर और बायें पैर को फैलाने पर आलीढ के समान ही प्रत्यालीढ स्थान होता है।

प्रत्यालीढं तु विज्ञेयं स्थानं दानव दैवतम् ॥१६॥
आलीढेनोदितं शस्त्रं प्रत्यालीढेन मोचयेत्।

प्रत्यालीढ को दानवों व देवताओं का स्थानक जानना चाहिए। आलीढ से उठे शस्त्र का इस प्रत्यालीढ से मोचन करना चाहिए।

स्त्री स्थानक—

अतः परं प्रवक्ष्यामि स्त्रीणां स्थानत्रयं नृप ॥१७॥
आयतं चावहित्थं च हयक्रान्तमथापि च।

हे नृप ! अब मैं स्त्रियों के तीन स्थानक बताता हूँ, ये हैं—आयत, अवहित्थ तथा हयक्रान्त ।

आयत स्थान

एक स्वभावो यत्रैव पादः विरचितः समः ॥१८॥
तालमात्रान्तरन्यस्तः त्र्यश्रः पक्षगतोऽपरः ।
प्रसन्नमाननमुरः समं यत्र समुन्नतम् ॥१९॥
लता नितम्बगौ हस्तौ स्थानज्ञेयं तदायतम् ।

जहाँ एक पैर स्वाभाविक रूप से समस्थित में रखा हो, ताल मात्र के अन्तर से दूसरा पैर अपनी ही ओर तिरछा स्थित हो, प्रसन्न सम्मुख, उन्नत वक्ष तथा नितम्ब से लगे दोनों हाथ लताहस्त में हों तब 'आयत स्थान' जानना चाहिए ।

रङ्गावतरणे ह्येतत् तथा पुष्पाञ्जलौ भवेत् ॥२०॥
रंगमंच पर आने तथा पुष्पांजलि में यह होता है ।

अवहित्थ स्थान—

पादो विरचित स्त्र्यश्र स्तदन्योऽपसृतः समः ।
पादस्तलान्तरन्यस्तस्त्रिकमीषत्समुन्नतम् ॥२१॥
अवहित्थं समाख्यातं स्थानमेतन्नरोत्तम ।

एक पैर तिरछा रखा हो, दूसरा पैर थोड़ी दूरी पर समस्थित हो, पादतल एक दूसरे के अन्तर से थोड़े ऊँचे उठे हुए हों, तब हे नरोत्तम ! स्त्रियों का अवहित्थ स्थान कहा गया है ।

विलासलीलालावण्यशृङ्गारात्मनिरूपणे ॥२२॥
स्थानमेतत्प्रयोक्तव्यं वरमार्गविलोकने ।

विलास, लीला, लावण्य, शृंगार, आत्म-निरूपण और प्रिय का पथ निहारने में इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए ।

अश्वक्रान्त स्थान—

समस्थितो यत्र पादस्तदन्यः पादस्तुलाञ्चितः ॥२३॥
तालैरनियतैरेष स्थानको हि विधीयते ।
सूचीविद्धमविद्धं वा तदश्वक्रान्तमिष्यते ॥२४॥

जिसमें एक पैर समस्थित हो, इसकी तुलना में दूसरा अंचित हो तथा जिसमें ताल (का अन्तर) अनिर्धारित हो, इस प्रकार जिस स्थानक का विधान किया जाए उसे सूचीविद्ध, अविद्ध या अश्वक्रान्त (हयक्रान्त) कहा जाता है।

शाखावलम्बे स्तबकोच्चये च
विघूर्णनेत्रासनसम्प्रलापे ।
स्वभाव संलापविधौ च कार्यं
स्थानंत्विदं यादववंशमुख्य ॥२५॥

हे यादव वंश प्रमुख ! डाली पकड़ने, गुच्छा तोड़ने, दोलायमान नेत्रों से बातचीत करने, स्वाभाविक संलाप में इस स्थानक का प्रयोग करना चाहिए।

(इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्रसंवादे पुंस्त्रीस्थानकनाम ॥२३॥)

पञ्चम अध्याय

(चतुर्विंशोऽध्यायः)

शिरो कर्म

मार्कण्डेयः—

शिरसः प्रथमं कर्म गदतो मे निबोधत।

पहले मैं शिर के कर्म बताता हूँ, उन्हें जानो।[२८]

आकम्पित शिर—

स्वभावादृजुचोर्ध्वापक्षेपेणाकम्पितं सकृत् ॥१॥
संज्ञोपदेशपृच्छासु स्वभावाभाषणे भवेत्।

स्वभाव से ही सीधा, ऊपर से नीचे की ओर एक बार कांपता हुआ "आकम्पित शिर" है, जो संज्ञा, उपदेश, पूछताछ करने व स्वाभाविक भाषण में होता है।

कम्पित शिर—

बहुशः कम्पितं यच्च तदा कम्पितमिष्यते ॥२॥
रोष तर्जन तर्केषु प्रतिज्ञासु च दृष्यते।

जब बहुत काँपता हुआ (शिर हो) तब वह "कम्पित" कहा जाता है, जो क्रोध, मना करने, तर्क करने व प्रतिज्ञा करने में दिखाया जाता है।

धुत शिर—

शिरसो रेचनं यत्तु शनैस्तद्धुतमिष्यते ॥३॥
विषादे विस्मये चैव प्रतिषेधे तदिष्यते।

जब शिर का धीरे-धीरे रेचन (हिलना) हो तब उसे "धुत" कहा जाता है। विषाद, विस्मय तथा प्रतिषेध में यह किया जाता है।

विधुत शिर—

विधुतं नाम प्रोक्तं तथा पार्श्व विकम्पनैः ॥४॥
शीतग्रस्ते जरार्ते च मत्ते च ज्वरिते भवेत्।

दोनों पार्श्व में काँपने से "विधुत" नामक शिर कहा गया है। शीतग्रस्त, बुढ़ापे से आर्त, मत्त एवं ज्वरग्रस्त के अभिनय में यह प्रयुक्त होता है।

परिवाहित शिर—

मण्डलभ्रमणाच्चैव भवेत्तु परिवाहितम् ॥५॥
साधने विस्मये हर्षे लीलायां च तदिष्यते।

गोलाई से घूमने पर "परिवाहित शिर" होता है। साधन करने, विस्मय, हर्ष और लीला में यह होता है।

उद्वाहित शिर—

सकृदुद्वाहितं चोर्ध्वं तदुद्वाहितमिष्यते ॥६॥
उच्छ्राये दर्शने गर्वे तत्तथोर्ध्वनिरीक्षणे।

एक बार ऊपर की ओर सिर उठाने को "उद्वाहित" जाना जाता है। ऊपर उठने, देखने, गर्व तथा ऊपर की ओर निरीक्षण करने में (यह प्रयुक्त होता है।)

अवधुत शिर

आक्षिप्तं सकृदेव स्यादवधूतमधोगतम् ॥७॥
संदेशालाप संज्ञासु तत्तथावाह्नादिषु।

जब एक बार ही नीचे की ओर सिर झुकाया जाए तब "अवधुत शिर" होता है, जो संदेश, बातचीत, संज्ञा तथा वाहनादि में होता है।

अंचित शिर

किञ्चित्पार्श्वनतग्रीवं शिरो विज्ञेयमञ्चितम् ॥८॥
मूर्च्छिते व्यथिते चैव सचिन्ते दुःखिते भवेत्।

थोड़ा सा पार्श्व में झुका हुआ शिर "अंचित" जानना चाहिए, जो मूछित व्यथित, चिन्तित व दुःखित (अवस्था में) होता है।

निकुंचित शिर—

उत्क्षिप्तबाहुशिखरं तथाञ्चितशिरोधरम् ॥९॥
निकुञ्चितं तद्गर्वे विलासे च प्रयोजयेत्।

उत्क्षिप्त (उचके हुए) कंधे और अंचित (तनी) हुई गरदन से "निकुंचित शिर" होता है, जिसे गर्व और विलास में प्रयोग करना चाहिए।

परावृत्त शिर—

परावृत्ते परावृत्तं कार्यं पृष्ठनिरीक्षणे ।।१०।।

पीछे की ओर मोड़ने पर "परावृत्त शिर" होता है, (जिससे) पीछे की ओर निरीक्षण करें।

उत्क्षिप्त शिर—

उत्क्षिप्तं चापि विज्ञेयमुन्मुखावस्थितं शिरः ।
प्रांशुदिव्यार्थयोगे च कार्यं तच्च प्रयोक्तृभिः ।।११।।

उन्मुख (ऊपर की ओर) अवस्थित शिर को "उत्क्षिप्त" जानना चाहिए। ऊँचा और दिव्य अर्थ के योग में प्रयोक्ताओं को इसे करना चाहिए।

अधोमुख शिर—

अधोमुखस्थितं चापि बुधाः प्राहुरधोगतम् ।
लज्जायां च प्रणामे च दुःखे तच्च प्रयोजयेत् ।।१२।।

अधोमुख (नीचे की ओर) स्थित होने पर बुद्धिमानों ने "अधोगत शिर" कहा है, जिसे लज्जा, प्रणाम व दुःख में प्रयोग करना चाहिए।

परिलोलित शिर—

सर्वतो लोलनाच्चैव परिलोलितमुच्यते ।
व्याधिते मूर्च्छिते मत्ते भवेत्तु परिलोलितम् ।।१३।।

सब तरफ दोलायमान होने से "परिलोलित शिर" होता है। व्याधिग्रस्त, मूर्च्छित व मत्त में परिलोलित शिर होता है।

एतत्तु शिरसः कर्म कथितं तन्नराधिप ।

हे नराधिप ! ये सिर के कर्म कहे गए।

ग्रीवा कर्म

अञ्चितं रेचितं मुक्तं विवृत्तं चतुरं तथा ।।१४।।
प्रसारितं तथा स्तब्धं ग्रीवा कर्माणि निर्दिशेत् ।

अंचित, रेचित, मुक्त, विवृत्त, चतुर, प्रसारित, तथा स्तब्ध (-ये सात) ग्रीवा कर्म निर्दिष्ट करें।[१०]

अञ्चितं किञ्चिदेकांशं लोलनाद्रेचितं तु तत् ।।१५।।
रेचितं भ्रमणान्मुक्तं विवृत्तं वलनं च तत् ।

मधुरं चतुरं प्रोक्तमायतं स्यात्प्रसारितम् ॥१६॥
स्तब्धं स्तब्धतया प्रोक्तं शिरः कर्मानुगामि च।

एक कंधे की ओर (थोड़ी मुड़ी हुई ग्रीवा होने से) "अंचित", वही दोलायमान होने से "रेचित", रेचित ही घूमने से "मुक्त", वही गोलाई से होने पर "विवृत्त" है। मधुर को "चतुर" कहा है। वही फैलने पर प्रसारित होती है। गतिहीन को "स्तब्ध" कहा गया है। (ये सब ग्रीवा-भेद) शिरोकर्म के अनुगामी हैं।

अञ्चितं स्याद्विलासादौ रेचितं मण्डलेक्षणे ॥१७॥
मुक्तं मूर्छादियोगेषु विवृत्तं ललितादिषु।
सौम्यभावे तु चतुरं दृष्टौ कार्यं प्रसारितं ॥१८॥
स्तब्धं शीते तथा व्याधौ अविकारी स्वभावतः।

विलास आदि में अंचित, वृत्ताकार देखने में रेचित, मूर्च्छा आदि के योग में मुक्त, ललित आदि (भावों में) विवृत्त, सौम्य भाव में चतुर तथा देखने में प्रसारित ग्रीवा करनी चाहिए। शीत तथा व्याधि में स्वभाव से ही अविकारी स्तब्ध ग्रीवा होती है।

मुख कर्म

विरुद्धं विनिवृत्तं च निर्भुग्नं भुग्नमेव च ॥१९॥
विवृत्तं तथैवर्जुकर्माण्यास्य निर्दिशेत्।

विरुद्ध, विनिवृत्त, (अवभुग्न), निर्भुग्न, भुग्न, विवृत्त तथा ऋजु (—ये सात) मुख (चेहरे) के कर्म निर्दिष्ट हैं।[११]

व्यावृत्तं स्याद्विरुद्धाख्यं निवृत्तं पिहितं भवेत् ॥२०॥
अवाङ्मुखमवाभुग्नं निर्भुग्नं चोर्ध्वगं तु तत्।
भुग्नं स्यादानतं किञ्चिन्निवृत्तं विवृत्तं भवेत् ॥२१॥
ऋजु स्वभावसंस्थं च तेषां कर्माणि चक्षते।

कुछ मुड़ा हुआ 'विरुद्ध' नामक मुख होता है, रुका हुआ निवृत्त है, नीचे की ओर झुका हुआ अवभुग्न, ऊपर की ओर उठा हुआ निर्भुग्न है, पूरी तरह झुका हुआ 'भुग्न' होता है, कुछ रुका हुआ 'विवृत्त' होता है और स्वाभाविक रूप से स्थित ही 'ऋजु' है। अब इनके कर्म बतलाता हूँ।

विरुद्धं वारणे कार्यमैवमित्येवमादिषु ॥२२॥
विनिवृत्त मसूयायामीर्षाकोपकृतेषु च।

निर्भुग्नं चापि विज्ञेयं गम्भीरालोकनादिषु ।।२३।।
भुग्नं तु लज्जिते योज्यं यतीनां तु स्वभावतः ।
विवृत्तं चापि कर्त्तव्यं हास्यशोकभयादिषु ।।२४।।
ऋजु स्वभावसंस्थाने कर्त्तव्यं यदुनन्दन ।

मना करने, 'ऐसा नहीं, ऐसा' कहने आदि में विरुद्ध मुख करना चाहिए। असूया, ईर्ष्या, कोप में विनिवृत्त करना चाहिए। गम्भीर आलोकन आदि में निर्भुग्न जानना चाहिए। लज्जित में तथा यतियों में स्वाभाविक रूप से भुग्न की योजना करनी चाहिए। हास्य, शोक, भय आदि में विवृत्त करना चाहिए। हे यदुनन्दन ! स्वाभाविक स्थिति में ऋजु करना चाहिए।

वक्ष कर्म

आभुग्नमथ निर्भुग्नं तथा चैव प्रकम्पितम् ।।२५।।
उद्वाहितं समंचैव पञ्चधोरः प्रकीर्तितम् ।

आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित व सम—इन पांच प्रकार का उर (वक्षस्थल) कहा गया है।[३२]

आभुग्न वक्ष—

धार्यते यच्च निम्नोर्ध्वं तदा भुग्नं प्रकीर्तितम् ।।२६।।
शस्त्रक्षते विघाते च हृद्रोगे च तदिष्यते ।

जब नीचे-ऊपर (उठता-गिरता) वक्ष रहे तब वह "आभुग्न" कहा जाता है। शस्त्र-क्षत, चोट व हृदय रोग में यह दिखाया जाता है।

निर्भुग्न वक्ष—

स्तब्धं च निम्नपृष्ठं च निर्भुग्नं नाम तत्स्मृतम् ।।२७।।
स्तम्भे सविस्मये माने विषादे च तथेष्यते ।

स्तब्ध और पीछे की ओर नीचे (स्थित वक्ष) "निर्भुग्न" नाम से जाना जाता है। स्तम्भित होने, विस्मय, मान और विषाद में यह दिखाया जाता है।

प्रकम्पित वक्ष—

उरसस्तूर्ध्वविक्षेपः प्रकम्पितमिहोच्यते ।।२८।।
हसिते रुदिते कार्यं श्रमे व्याधिभये तथा ।

वक्ष का ऊपर की ओर विक्षेप "प्रकम्पित" कहा जाता है। हँसने, रोने, श्रम, व्याधि और भय में इसे करें।

उद्वाहित वक्ष—

उद्वाहितं यदूर्ध्वं तु तदुद्वाहितमुच्यते ॥२९॥
ऊर्ध्वं निश्वसिते कार्यं जृम्भितेषु प्रयोगतः ।

वक्ष जब ऊपर की ओर हो तब "उद्वाहित" कहा जाता है। प्रयोगानुसार निःश्वास व जमुहाई में इसे करना चाहिए ।

सौष्ठव भेद

चतुरस्रं समं नाम विज्ञेयं सौष्ठवेषु तत् ॥३०॥
चतुरस्र व सम नामक (दो भेदों को भी) जानें जो सौष्ठव में हैं ।[१३]

पार्श्व कर्म

समुन्नतं नतं चैव प्रसारितविवर्तिते ।
तथापसृतमेवं हि पार्श्वयोः कर्म पञ्चधा ॥३१॥

समुन्नत, नत, प्रसारित विवर्तित व अपसृत—ये पाँच पार्श्व-कर्म हैं ।[१४]

समुन्नत पार्श्व—

कटिपार्श्वभुजांसैस्तैरुन्नतैः स्यात्समुन्नतम् ।
कटि, पार्श्व, भुजा व कंधे—इन सबके उन्नत होने पर "समुन्नत पार्श्व" होता है ।

नत पार्श्व—

कटी यत्र तु निर्भुग्ना पार्श्वं तद्विनतं भवेत् ॥३२॥
जहाँ कटि निर्भुग्न (नीचे झुकी) हो वहाँ "नत पार्श्व" होता है ।

प्रसारित पार्श्व—

प्रसारणादुभयतः पार्श्वयोः स्यात्प्रसारितम् ।
दोनो पार्श्वों को दोनों ओर फैलाने से "प्रसारित पार्श्व" होता है ।

विवर्तित पार्श्व—

परिवर्तनात् त्रिकस्यापि विवर्तितमिहेष्यते ॥३३॥
त्रिक (कूल्हे) के परिवर्तन से "विवर्तितपार्श्व" दिखाया जाता है ।

अपसृत पार्श्व—

अस्यचैवापगमनाद् भवेदपसृतं पुनः ।
इसे (विवर्तित को) पीछे की ओर ले जाने से "अपसृत पार्श्व" होता है ।

पार्श्व प्रयोग—

नतं त्वासृते कार्यं चोन्नतं तूपसर्पिते ॥३४॥
प्रसारितं प्रहर्षादौ त्रासे चापसृतं पुनः ।
विवर्तितं विवर्ते च कारणं पार्श्वमुच्यते ॥३५॥

आसृत (आगे झुकने) में नत, उपसर्प (पास जाने) में उन्नत, प्रहर्ष आदि में प्रसारित, त्रास में अपसृत, तथा विवर्त (गोल घूमने) में विवर्तित पार्श्व करना चाहिए।

उदर कर्म

क्षामं निम्नं च पूर्णं च सम्प्रोक्तमुदरं त्रिधा ।
क्षामं तु हसिते कार्यं तथा चैव विजृम्भिते ॥३६॥
व्याधिते तपसि श्रान्ते क्षुधार्थे निम्नमेव च ।
पूर्णं निःश्वसिते चैव ह्यारोग्ये ललितेषु च ॥३७॥

क्षाम, निम्न और पूर्ण—इन तीन प्रकार का उदर कहा गया है। हँसने व जमुहाई लेने में क्षाम करना चाहिए। व्याधि, तप व क्षुधार्त में निम्न होता है। निःश्वास, आरोग्य व ललित में पूर्ण होता है।[२५]

कटि कर्म

प्रकम्पिता च विच्छिन्ना निवृत्ता रेचिता तथा ।
उद्वाहिता चैव कटिर्नृत्ते पञ्चविधा स्मृता ॥३८॥

नृत्य में पाँच प्रकार की कटि जानी गई है—प्रकम्पिता, विच्छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता व उद्वाहिता।[२६]

प्रकम्पिता कटि –

तिर्यग्गतागताक्षिप्रं विज्ञेया प्रकम्पिता ।

तेजी से तिरछे आती-जाती कटि 'प्रकम्पित' जानें।

छिन्ना कटि—

मध्यस्य वलनाच्चैव छिन्ना संपरिकीर्तिता ॥३९॥

मध्यभाग के गोलाई से घूमने पर 'छिन्ना कटि' कही गई है।

निवृत्ता कटि—

पराङ्मुखस्याभिमुखी निवृत्ता परिकीर्तिता ।

पीछे से आगे की ओर होती हुई कटि 'निवृत्ता' कही गई है।

रेचिता कटि—

सर्वतो भ्रमणाच्चैव रेचितेत्यभिधीयते ॥४०॥

सब तरफ घूमने से ही "रेचिता कटि" कही गई है।

उद्वाहिता कटि—

नितम्बोद्वहनाच्चैव तथैवोद्वाहिता मता।

नितम्ब के ऊपर उठने से 'उद्वाहिता कटि' मानी गई है।

कटि प्रयोग—

नीच वामनकुब्जानां गतौ कार्या प्रकम्पिता ॥४१॥
व्यायामे त्वथ सम्प्राप्ते व्यावृत्तप्रेक्षितेषु च।
छिन्ना कार्या कटिस्तज्ज्ञैर्निवृत्तावर्तितेषु च ॥४२॥
रेचिता रेचिते कार्या अन्या लीलागतं स्त्रियाः।

नीच, बौने व कुबड़े की गति में प्रकम्पिता करें, व्यायाम, सम्प्राप्ति व घूमकर देखने में विद्वानों को छिन्ना-कटि करना चाहिए, पलटने में निवृत्ता, रेचित में तथा लीलागत स्त्रियों में रेचिता करें।

उरु कर्म

कम्पनं वलनं चैव स्तम्भनोद्वर्तने तथा ॥४३॥
विवर्तनं च पञ्चैव उर्वोः कर्माणि कारयेत्।

कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्वर्तन व विवर्तन—ये पाँच उरु कर्म करना चाहिए।[२७]

कम्पित उरु—

नमनोन्नमनेपार्ष्ण्योर्महीपृष्ठे द्रुते यदा ॥४४॥
स्थित्वा पादतलाग्रेण कम्पितं तु तदिष्यते।

पैर के पंजों पर स्थित होकर जब दोनों एड़ियों को तेजी से जमीन पर उठाया-गिराया जाए तब उसे "कम्पित उरु" कहा जाता है।

वलित उरु—

गच्छेदभ्यन्तरं जानु शनैर्यद्वलितं तु तत् ॥४५॥

जब जानु धीरे-धीरे अन्दर की ओर जाएँ तब "वलित उरु" होता है।

स्तम्भित उरु—

स्तम्भनं चापि विज्ञेयं अपवृत्तक्रियाकुलम् ।

अपवृत्त (पीछे की ओर ले जाना) क्रिया से युक्त "स्तम्भित उरु" जानना चाहिए ।

उद्वर्तित उरु—

वलिताविद्धभावं स्यादुद्वर्तनमथापि च ॥४६॥

वलिताविद्ध भाव में (गोलाई से घूमने पर) "उद्वर्तित उरु" होता है ।

विवर्तित उरु —

पार्ष्णिरभ्यन्तरं गच्छेद्यत्र तत्र विवर्तितम् ।

जहाँ एड़ियाँ अन्दर की ओर जाएँ वहाँ "विवर्तित उरु" होता है ।

उरु प्रयोग—

गतिष्वधमपात्राणां कम्पितं सम्प्रयोजयेत् ॥४७॥
वलनं चैव कर्त्तव्यं स्त्रीणां स्वैरपरिक्रमे ।
ह्रीसाध्व सविषादेषु स्तम्भनं सम्प्रयोजयेत् ॥४८॥
व्यायामे ताण्डवे चैव कार्यमुद्वर्तनं तथा ।
विवर्तनं च कर्त्तव्यं संभ्रमादि परिक्रमे ॥४९॥

अधम पात्रों की गति में कम्पित का प्रयोग करना चाहिए । स्त्रियों के स्वच्छन्द घूमने में वलन करना चाहिए । लज्जा, भय, विषाद में स्तम्भन का प्रयोग करें । व्यायाम और ताण्डव में उद्वर्तन करें तथा संभ्रमयुक्त घूमने में विवर्तन करना चाहिए ।

जंघा कर्म

आवर्तितं नतं क्षिप्तं चोद्वाहितमथापि च ।
परिवृत्तं तथा पञ्च जङ्घाकर्माणि निर्दिशेत् ॥५०॥

आवर्तित, नत, क्षिप्त, उद्वाहित और परिवृत्त इन पाँच 'जंघा कर्मों' का निर्देश करें ।[३८]

आवर्तित जंघा—

आवर्तितं तु व्यत्यासाद्वामदक्षिणजङ्घयोः ।

बाँयी और दाहिनी जंघा के परस्पर विपरीत होने पर वह "आवर्तित" कही जाती है ।

नत जंघा

जानन्वोराकुञ्चनाच्चैव नतं ज्ञेयं प्रयोक्तृभिः ॥५१॥

जानु के आकुंचन (सिकोड़ने से) प्रयोक्ताओं को "नत" जानना चाहिए।

क्षिप्त जंघा—

विक्षेपाच्चैव जङ्घायाः क्षिप्तमित्यभिधीयते।

जंघों के विक्षेप से 'क्षिप्त' जाना जाता है।

उद्वाहित जंघा —

उद्वाहितं तु विज्ञेयमूरूद्वाहनकर्मणा ॥५२॥

ऊरुओं के उठाने से 'उद्वाहित जंघा' जानें।

परिवृत्त जंघा—

प्रतीपनयनं यत्र परिवृत्तं तदिष्यते।

विपरीत झुकाव जहाँ हो उसे 'परिवृत्त' कहा है।

जंघा प्रयोग—

आवर्तनं प्रयोक्तव्यं विदूषक परिक्रमे ॥५३॥
नतं चापि हि कर्त्तव्यं स्थानासनगतादिषु।
क्षिप्तं व्यायामयोगेषु ताण्डवेषु प्रयोजयेत् ॥५४॥
तथा चोद्वाहितं कार्यमाविद्धगमनादिषु।
ताण्डवादौ प्रयोक्तव्यं परिवृत्तं प्रयोक्तृभिः ॥५५॥

विदूषक के घूमने में आवर्तित का प्रयोग करना चाहिए। स्थानक, आसन आदि में नत करना चाहिए। व्यायाम के योग में तथा ताण्डव में 'क्षिप्त' प्रयुक्त करें। आविद्ध-गमन आदि में उद्वाहित करें। प्रयोक्ताओं को ताण्डव के आरम्भ में परिवृत्त करना चाहिए।

पाद कर्म

उद्घाटित समश्चैव पादो रेचित संज्ञितः।
अञ्चितः कुञ्चितश्चैव पादः पञ्चविधः स्मृतः ॥५६॥

उद्घाटित, सम, रेचित, अंचित व कुंचित पाँच प्रकार के पाद कर्म माने गए हैं।[३८]

उद्घाटित पाद—

स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णिर्भूमौ निपात्यते।
यस्य पादस्य करणात्स उद्घाटित उच्यते ।।५७।।
कार्योऽनुरक्तकरणे प्रचारे ललिते तथा।

पंजों पर स्थित होकर एड़ी को भूमि पर पटकने की क्रिया जब पैर से की जाए तब उसे "उद्घाटित पाद" कहा जाता है। इसे अनुरक्तकरण में तथा प्रचार व लीला में करें।

सम पाद—

स्वभाव रचिता भूमौ समस्थानः समः स्मृतः ।।५८।।
एषः कार्यः सदा पादः स्वभावाभिनयाश्रयः।

स्वाभाविक रूप से भूमि पर रचा गया सम स्थानक ही 'सम पाद' है। इस पाद को सदा स्वाभाविक अभिनय के आश्रय में करना चाहिए।

अग्रतल संचर पाद—

उत्क्षिप्ता तु भवेत् पार्ष्णिः पादेऽग्रतलसञ्चरे ।।५९।।

'अग्रतल संचर पाद' में एड़ी उठी रहती है।

रेचित पाद—

निक्षिप्ते रेचिते भ्रान्ते पादे यस्ताडिते भवेत्।
ललितश्चायमेव स्यात्पादो रेचित संज्ञितः ।।६०।।

निक्षिप्त, रेचित, भ्रान्त व ताड़ित कर्म में जो पाद होता है वही यह 'रेचित' नामक ललित पाद है।

एष प्रचार सञ्चारे ललितोद्वर्तिते भवेत्।

यह (रेचित पाद) प्रचार-संचार में, ललित भाव में तथा उद्वर्तित में होता है।

अंचित पाद

उत्क्षिप्ताग्रतलः पादः कथितस्तु तथाञ्चितः ।।६१।।
नाना भ्रमरके चैव कार्यः पादोऽयमञ्चितः।

पंजा उठाने पर 'अंचित पाद' होता है। विभिन्न प्रकार की भ्रमरियों (गोल घूमने) में यह अंचित पाद करना चाहिए।

कुंचित पाद—

पादः कुञ्चित मध्योऽयं भवेत्कुञ्चित संज्ञिते ।
अतिक्रान्ताभिगमने पादमेतत्प्रयोजयेत् ॥६२॥

बीच में मुड़े पैर (पगतल) को 'कुंचित पाद' कहा जाता है। अतिक्रान्त तथा अभिगमन में इसका प्रयोग करें।

चारी लक्षण—

एकपाद प्रचारो यस्सचारीत्येव संज्ञितः ॥६३॥

जब एक पैर उठाकर रखा जाए तो वह 'चारी'' कहा जाता है।

मण्डल लक्षण—

द्विपादक्रमणं यत्र करणं नाम तद्भवेत् ।
करणानां समायोगः खण्ड इत्यभिधीयते ॥६४॥

जहाँ दो पैरों का संक्रमण हो उसका नाम करण होता है। करणों का समायोग खण्ड जाना जाता है।

द्वाभ्यां त्रिभिर्वा यदि वा चतुर्भि—
र्युक्तं भवेन्मण्डलमेव नाम्ना ।
इत्यङ्गकर्माभिहितं ब्रवीमि
निबोध राजस्त्वमुपाङ्गकर्म ॥६५॥

दो, तीन या चार खण्डों से युक्त 'मण्डल' होता है। ये अंग-कर्म जानें। हे राजन् ! (अब) उपांग कर्म कहता हूँ, उन्हें जानो।

(इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्र संवादे अङ्ग कर्माध्यायोनाम ॥२४॥)

षष्ट अध्याय

(पञ्चविंशोऽध्यायः)

दृष्टि भेद

कान्ता भयानका हास्याकरुणा ह्यद्भुता तथा ।
रौद्रा वीरा च बीभत्सा शान्ता च रसदृष्टयः ॥१॥

कान्ता, भयानका, हास्या, करुणा, अद्भुता, रौद्रा, वीरा, बीभत्सा व शान्ता ये रस दृष्टियाँ हैं ।४०

स्निग्धा हृष्टा च जिह्मा च क्रुद्धा भीताथलज्जिता ।
दृप्ताथ विस्मिता सौम्या स्थायिभावेषु दृष्टयः ॥२॥

स्निग्धा, हृष्टा, जिह्मा, क्रुद्धा, लज्जिता, दृप्ता, विस्मिता और सौम्या दृष्टियाँ स्थायी भावों में होती हैं ।

मलिनाऽऽकेकरा श्रान्ता चाभितप्ताथ विप्लुता ।
विषण्णा शङ्किताचैव त्रस्ता शोकानिमीलिता ॥३॥
विभ्रान्ता कुञ्चिता शून्या मुकुलातु वितर्किता ।
मदिरा ललिता ग्लाना इत्येवं दृष्टि संग्रहः ॥४॥
षट्त्रिंशद् दृष्टयो ह्येता नामतोऽभिहता मया ।

मलिना, आकेकरा, श्रान्ता, अभितप्ता, विप्लुता, विषण्णा, शंकिता, त्रस्ता, शोका, निमीलिता, विभ्रान्ता, कुंचिता, शून्या, मुकुला, वितर्किता, मदिरा, ललिता व ग्लाना—यह दृष्टि-संग्रह है । ये ३६ दृष्टियाँ मेरे द्वारा नामतः बताई गई ।

कान्ता दृष्टि—

सभ्रूक्षेप कटाक्षा तु कान्ता ज्ञेया समन्मथा ॥५॥

भ्रूक्षेप, कटाक्ष व काम सहित कान्ता दृष्टि जानें ।

भयानका दृष्टि—

उद्वृत्तपुटपक्ष्माग्रा चलत्तारा भयानका ।

भयानका दृष्टि में पलकें ऊपर की ओर, पक्ष्म (पलक के बाल) आगे की ओर तथा तारक चलते रहते हैं ।

हास्या दृष्टि—

हास्या दृष्टि में थोड़े सिकुड़े हुए पलक और विभ्रान्त (डोलते) तारक रहते हैं।

करुणा दृष्टि—

पतितोर्ध्वपुटा सास्रा करुणा नष्टतारिका।
किञ्चित् कुञ्चित पक्ष्माग्रा किञ्चिदुद्वृत्ततारिका ॥७॥

करुणा दृष्टि में पलकें आँसू सहित ऊपर से नीचे की ओर गिरती हुई, छुपी हुई तारिका या कभी थोड़े सिकुड़े हुए पक्ष्माग्र तथा थोड़ी ऊपर उठी तारिका रहती है।

अद्भुता दृष्टि—

समा विकसिता चैव साद्भुता दृष्टिरिष्यते।

अद्भुता दृष्टि सम और विकसित होती है।

रौद्रा दृष्टि—

उद्वृत्ता कथिता रौद्रा भ्रकुटिः कुटिला तथा ॥८॥

रौद्रा दृष्टि उद्वृत्ता (ऊपर उठी हुई) तथा टेढ़ी भौंह वाली कही गई है।

वीरा दृष्टि—

उत्फुल्लमध्या वीरा तु कथिता समतारिका।

वीरा दृष्टि में मध्य भाग खिला हुआ व सम तारिका कही गई है।

बीभत्सा दृष्टि—

बीभत्सा कथिता दृष्टिरपाङ्गा क्षिप्ततारिका ॥९॥

बीभत्सा दृष्टि में अपांग (निचली पलक) और तारिका क्षिप्त (लटकी) कही गई है।

शान्ता दृष्टि—

ध्यानादनिमिषा शान्ता ह्यधोभागविचारिणी।

ध्यान से निर्निमेष व अधोभाग में विचरण करने वाली शान्ता दृष्टि होती है।

स्निग्धा दृष्टि—

व्याकोश मध्या मधुरा स्निग्धा प्रहसितासिता ॥१०॥

खिले हुए मध्य भाग वाली मधुर और हँसती हुई स्निग्धा दृष्टि मानी गई है।

हृष्टा दृष्टि—

उत्फुल्लमध्या प्रचला हृष्टा पर्यन्त वीक्षिणी।

खिले हुए मध्य भाग वाली, चलती हुई तथा कोर से देखने वाली हृष्टा दृष्टि होती है।

जिह्मा दृष्टि—

जिह्माधोगततारा च गूढं मग्ना निरीक्षिणी ॥११॥

नीचे गए तारक वाली, गूढ़, मग्न तथा निरीक्षण करती सी 'जिह्मा दृष्टि' होती है।

क्रुद्धा दृष्टि—

भ्रकुटी कुटिला क्रुद्धा तथा निष्टब्धतारिका।

कुटिल भौंह तथा निष्टब्ध तारक वाली क्रुद्धा दृष्टि होती है।

भीता दृष्टि—

आकुञ्चितपुटा भीता रूक्षाव्यावृत्ततारिका ॥१२॥

आकुंचित (सिकुड़ी) पलकें, रूखी तथा व्यावृत्त (फैले) तारक वाली भीता दृष्टि है।

दृप्ता दृष्टि—

सत्त्व मुद्गिरती दृष्टिर्दृप्ता विकसिता भवेत्।

दृप्ता दृष्टि सत्त्व टपकाती हुई और विकसित (खिली) होती है।

विस्मिता दृष्टि—

समा विकसितापाङ्गा विस्मिता सा निगद्यते ॥१३॥

सम और विकसित अपांग वाली विस्मिता दृष्टि कही गई है।

सौम्या दृष्टि—

समा सौम्या विनिर्दिष्टा तथा च समतारका।

सम तारकों वाली सम दृष्टि सौम्या बताई है।

लज्जिता दृष्टि—

आकुञ्चिता लज्जिता स्यात्तथा व्यावृत्ततारिका ॥१४॥

आकूंचित (झुकी हुई) तथा व्यावृत्त (फैले) तारक वाली लज्जिता दृष्टि होती है।

मलिना दृष्टि—

पुटौ प्रस्फुरितौ यस्या मलिना सानिगद्यते।

दोनों प्रस्फुरित पलकों वाली मलिना दृष्टि कही है।

आकेकरा दृष्टि—

आकुञ्चित पुटा या तु दृष्टिराकेकरा भवेत् ॥१५॥

जिसमें आकुंचित पुट हों वह आकेकरा दृष्टि है।

श्रान्ता दृष्टि—

किञ्चिदुन्नमितापुरा श्रान्ता सा तु विधीयते।

जो आगे से कुछ उन्नमित हो उसे श्रान्ता जानें।

अभितप्ता दृष्टि—

अभितप्ता तथा मन्दा मन्दतारापुटा तु या ॥१६॥

जो मन्द तारापुट वाली मन्दा दृष्टि है उसे अभितप्ता जानें।

विप्लुता दृष्टि—

विप्लुता विप्लुता प्रोक्ता त्रस्ता विस्फुरिता च या।

फैली हुई, विस्फुरित व डूबी-डूबी विप्लुता दृष्टि कही गई है।

विषण्णा दृष्टि—

किञ्चिन्निष्टब्धतारा तु विषण्णा दृष्टिरुच्यते ॥१७॥

थोड़े निष्टब्ध तारकों वाली विषण्णा दृष्टि कही है।

शंकिता दृष्टि—

अनवस्थिततारा चशङ्किता परिकीर्तिता।

अस्थिर तारों वाली शंकिता दृष्टि बताई गई है।

त्रस्ता दृष्टि—

रूक्षा ललिता तारा च त्रस्ताख्या सभया भवेत् ॥१८॥

रूखी, ललित तारकों वाली तथा भययुक्त दृष्टि त्रस्ता नाम की होती है।

विशोका दृष्टि—

उत्फुल्ला च विशोकाख्या तथा च निमिषेक्षणा ।

बिना पलक झपकाए देखती हुई तथा खिली हुई दृष्टि विशोका है ।

विभ्रान्ता दृष्टि—

अनवस्थित नेत्रा च विभ्रान्ता भ्रान्ततारका ॥१९॥

अस्थिर नेत्र व भ्रान्त तारकों वाली विभ्रान्ता दृष्टि है ।

कुञ्चिता दृष्टि—

कुञ्चिता कुञ्चिता दृष्टिः किञ्चिदञ्चिततारिका ।

थोड़े अञ्चित तारकों वाली आकुंचित दृष्टि 'कुंचिता' है ।

शून्या दृष्टि—

स्थिरतारापुटा शून्या संक्षुब्धा समदर्शना ॥२०॥

स्थिर तारक व पलकों वाली, संक्षुब्ध व समदर्शना दृष्टि "शून्या" है ।

मुकुला दृष्टि—

प्रस्पन्दमानपक्ष्माग्रा मुकुला मुकुला भवेत् ।

फड़कती हुई बरौनियों वाली आधी मुँदी हुई "मुकुला" दृष्टि होती है ।

वितर्का दृष्टि—

उद्वृत्तपुटपक्ष्मा तु वितर्का स्तब्धतारिका ॥२१॥

ऊपर उठी हुई पलक व बरौनियों तथा स्तब्ध तारकों वाली "वितर्का" दृष्टि होती है ।

मदिरा दृष्टि—

उत्फुल्लामदिरा नाम तथा वलित तारिका ।

गोलाई से घूमते हुए तारकों वाली तथा खिली हुई "मदिरा" दृष्टि है ।

ललिता दृष्टि—

फुल्लितान्ता सलावण्या सस्मिता ललिता मता ॥२२॥

खिले हुए कोरों वाली, लावण्ययुक्त व हँसती हुई दृष्टि "ललिता" मानी गई है ।

ग्लाना दृष्टि—

प्रलूनपक्ष्मा सा सास्रा ग्लानाख्या मुकुलीकृता।

गिरी हुई बरौनियों वाली, फैली व मुंदी हुई दृष्टि "ग्लाना" नाम से जानी गई है।

दृष्टि प्रयोग—

कान्ता दृष्टिः कटाक्षे तु घातने तु भयानका ॥२३॥

कटाक्ष में कान्ता और मारने में भयानका दृष्टि होती है।

हास्या हास्ये च विज्ञेया करुणा करुणे रसे।
स्वद्भुते चाद्भुता कार्या रौद्रा रौद्रे विधीयते ॥२४॥

हास्य में हास्या जानें, करुण रस में करुणा करें, अद्भुत में अद्भुता करें व रौद्र में रौद्रा दृष्टि का विधान करें।

वीरा वीरे च कर्त्तव्या बीभत्सा च जुगुप्सिते।
शान्ता शान्ते तु निर्दिष्टा स्निग्धा स्निग्धावलोकने ॥२५॥

वीर रस में वीरा करनी चाहिए, जुगुप्सा (घृणा) में बीभत्सा, शान्त रस में शान्ता बताई है तथा स्निग्धतापूर्वक देखने में स्निग्धा दृष्टि (होती है)।

हृष्टा हृष्टे तु कर्त्तव्या जिह्मा कार्याभ्यसूयिते।
क्रुद्धा क्रुद्धे तु निर्दिष्टा भीता भीते तथा भवेत् ॥२६॥

हृष्ट में हृष्टा करें, असूया में जिह्मा करें, क्रोध में क्रुद्धा बताई है और भय में भीता होती है।

लज्जिते लज्जिताख्या स्यात् दृप्तोत्साहगतेषु सा।
विस्मिता विस्मये दृष्टिः सौम्या सौम्यावलोकने ॥२७॥

लज्जा में लज्जिता नामक दृष्टि होती है, दृप्ता दृष्टि उत्साहगत है, विस्मय में विस्मिता और सौम्यता से देखने में सौम्या (दृष्टि होती है)।

मलिना विरहे कार्या संभोगे केकरा भवेत्।
श्रान्ता श्रान्तस्य कर्त्तव्या निर्वेदे त्वभितप्तका ॥२८॥

विरह में मलिना दृष्टि करें, संभोग में आकेकरा दृष्टि होती है, थके हुए की श्रान्ता तथा निर्वेद में अभितप्ता करें।

विप्लुताख्या तु दैन्ये स्याद्विषादेतु विषण्णिका।
शङ्किते शङ्किता चैव त्रस्तेत्रस्ता विधीयते ॥२९॥

दैन्य में विप्लुता होती है, विषाद में विषण्णा, शंकित होने पर शंकिता तथा त्रास में त्रस्ता का विधान करें।

> ध्याने विशोका च तथा स्पर्शे कार्या निमीलिता।
> विभ्रान्ता विभ्रमे कार्या कुञ्चिता सूक्ष्म दर्शने ॥३०॥

ध्यान में विशोका तथा स्पर्श में निमीलिता करें। विभ्रम में विभ्रान्ता और बारीकी से देखने में कुंचिता करें।

> चिन्तान्वितस्य शून्या स्यान्मुकुला घ्राण कर्मणि।
> वितर्के तु वितर्का स्यात्समदे मदिरा भवेत् ॥३१॥
> स्त्रीणां हेलासु ललिता ग्लाना ग्लाने विधीयते।

चिन्तित व्यक्ति की शून्या दृष्टि होती है, सूंघने में मुकुला, तर्क करने में वितर्का तथा नशे की अवस्था में मदिरा होती है। स्त्रियों के हेलाभाव में ललिता और ग्लानि में ग्लाना दृष्टि होती है।

पुट कर्म

> उन्मेषश्च निमेषश्च प्रसारितं विवर्तितं ॥३२॥
> आकुञ्चितं समं चैव स्फुरितं पिहितं तथा।
> ताडितं पुटयोः कर्म नवधा परिकीर्तितम् ॥३३॥

उन्मेष, निमेष, प्रसारित, विवर्तित, आकुंचित, सम, स्फुरित, पिहित व ताड़ित—ये नौ पुट कर्म बताए हैं।[४१]

निमेष पुट—

> समागमः पुटानां यः स निमेष इति स्मृतः।

पलकों का जो मिलना है वह 'निमेष' जाना गया है।

उन्मेष—

> विश्लेषश्चैव यस्ताभ्यां स उन्मेषः प्रकीर्तितः ॥३४॥

पलकों का अलग होना 'उन्मेष' कहा गया है।

विवर्तित—

> प्रसारितौ पुटौ यत्र भवेत्तद्धि विवर्तितम्।

पलकें जहाँ फैली हों वह 'विवर्तित' होता है।

आकुंचित—

> आकुञ्चिताभ्यां ताभ्यां तु ज्ञेयमाकुञ्चितं बुधैः ॥३५॥

पलकों के सिकुड़ने पर बुद्धिमान 'आकुंचित जानें।

सम—

स्वभावपुटसंस्थानं समं तद्धि प्रकीर्तितम् ।

पलकों की स्वाभाविक स्थिति 'सम' कही गई है ।

स्फुरित—

पुटौ प्रस्फुरितौ यत्र स्फुरितं तदिहोच्यते ॥३६॥

जहाँ फड़कती हुई पलकें हों वह 'स्फुरित' कहलाती है ।

पिहित—

पुटावपिहितौ यत्र पिहितं नाम तद्भवेत् ।

जहाँ पलकें बन्द हों वह 'पिहितं' होती है ।

ताड़ित—

सस्तमूलौ पुटौ यत्र तद्धि ताडितमुच्यते ॥३७॥

जहाँ पलकें मूल से ही ढीली हों वह 'ताड़ित' कही है ।

पुट प्रयोग—

गन्धे स्पर्शे तथानिष्टे ज्ञेयमाकुञ्चितं बुधैः ।
विस्मयार्थे तथा वीरे तच्च कार्यं प्रसारितम् ॥३८॥

गंध, स्पर्श तथा अनिष्ट में बुद्धिमानों को आकुंचित पुट जानना चाहिए । विस्मय तथा वीर में प्रसारित करें ।

शृंगारे तु समं कार्यमभिघातेऽवताडितम् ।
स्त्रीणां प्रणयरोषेषु स्फुरितं तदिहेष्यते ॥३९॥

शृंगार में सम पुट करना चाहिए, अभिघात में ताड़ित तथा स्त्रियों के प्रणय-रोष में स्फुरित बताई गई है ।

शीतवातोष्णवर्षेषु पिहितं कार्यमेवतु ।
क्रोधे विवर्तितं कार्यं निमिषोन्मेषयोः स्वकौ ॥४०॥

ठंड, हवा, गर्मी एवं वर्षा में पिहित करना चाहिए । क्रोध में विवर्तित करें और अपना बताने में निमेष व उन्मेष करें ।

तारक कर्म

वलनं भ्रमणं चैव चलनं संप्रवेशनम् ।
विवर्तनं पातनं च विज्ञेयं निष्क्रमं तथा ॥४१॥

उद्वर्तः प्राकृतं चैव तारकाकर्म चेष्यते ।

वलन, भ्रमण, चलन, संप्रवेशन, विवर्तन, पातन, निष्क्रम, उद्वर्त और प्राकृत—ये नौ तारक कर्म कहे गए हैं।[४२]

भ्रमण—

मण्डलावर्तनं मध्ये पुटयोर्भ्रमणं स्मृतम् ॥४२॥

पलकों के बीच तारक के गोलाई से घूमने को 'भ्रमण' कहते हैं।

वलन-चलन—

वलनं गमनं तिर्यक्वलनाच्चलनं भवेत् ।

(आँख की पुतली के) गमन (जाने) से 'वलन" और तिरछे चलने से "चलन" होता है।

संप्रवेशन—

आभ्यन्तरत आकर्षः प्रवेशात्संप्रवेशनम् ॥४२॥

(तारकों के) भीतर से खिच कर आने पर "संप्रवेशन" जानें।

विर्वातित—

तथा चापाङ्गसञ्चाराद्विर्वातितमुदाहृतम् ।

(तारकों के) नीचे की पलकों पर घूमने से "विर्वातित" कहा गया है।

पातन-निष्क्रम—

पातनं स्रस्तभावश्च निष्क्रामान्निष्क्रमं तथा ॥४४॥

(पुतलियों के) ढीला छोड़ने से "पातन" और उनके (बाहर) निकल आने से "निष्क्रम" (जानें)।

उद्वर्तन-प्राकृत—

उद्वर्तनं परावृत्तेः प्राकृतं तु स्वभावतः ।

(तारकों के) पलटने को 'उद्वर्तन' और स्वाभाविक स्थिति को 'प्राकृत' कहते हैं।

तारक प्रयोग—

हास्ये तु वलनं कार्यं मदे भ्रमणमेव च ॥४५॥
वीररसे स्याच्चलनं वीभत्से संप्रवेशनम् ।
विर्वातितं तु शृंगारे पातनं करुणे रसे ॥४६॥

भयानके निष्क्रमणं वीरे चोद्वर्तनं तथा।
प्राकृतं शेषभावेषु यथायोगं प्रयोजयेत् ॥४७॥

हास्य में वलन और मद में भ्रमण करना चाहिए। वीर रस में चलन और वीभत्स में संप्रवेशन होता है। शृंगार में विवर्तित तथा करुण रस में पातन जानें। भयानक में निष्क्रमण, वीर में उद्वर्तन तथा शेष सभी भावों में प्राकृत का यथोचित प्रयोग करें।

दर्शन भेद

समं साचीकृतं च स्यादनुवृत्तमतः परम्।
आलोकितोल्लोकितावलोकित विलोकितं च ॥४८॥

सम, साचीकृत, अनुवृत्त, आलोकित, उल्लोकित, अवलोकित तथा विलोकित—(ये दर्शन भेद कहे गए हैं)।४९

सम—

समतारं च सौम्यं च दृष्टिकर्म समं भवेत्।

सम तारकों वाला सौम्य दर्शन ही 'सम' होता है।

साचीकृत—

पक्ष्मान्तर्गततारं च साचीकृतमिहोच्यते ॥४९॥

बरौनियों के अन्दर गए तारकों वाला दृष्टिकर्म "साचीकृत" कहा जाता है।

अनुवृत्त—

रूपनिर्वर्तनायुक्त मनुवृत्तमितिस्मृतम्।

रूप-निर्वर्तन से युक्त दर्शन को 'अनुवृत्त' जानें।

आलोकित—

सहसा दर्शनं यत्स्यात्तदालोकितमिष्यते ॥५०॥

जो सहसा देखना होता है उसे 'आलोकित' जानें।

उल्लोकित—

ऊर्ध्वमुल्लोकितंज्ञेयं सर्वतो लोकितं तथा।

ऊपर सब तरफ देखना 'उल्लोकित' जानें।

विलोकित-अवलोकित—

विलोकितं तु पार्श्वाभ्यां पृष्ठतलाश्चावलोकितम् ।।५१।।

दोनों बगलों में देखना 'विलोकित' और पीछे की ओर देखना 'अवलोकित' होता है ।

भ्रू कर्म

दृष्टिनामनुगं चैव भ्रुवोः कर्म प्रयोजयेत् ।
यथा नेत्रं प्रसर्पेद्धि नानाभावरसाश्रयम् ।।५२।।
नेत्रस्यानुक्रमेणैव भ्रुवोस्तु चलनं भवेत् ।

दृष्टियों का अनुगमन करते हुए ही भ्रुव-कर्म करना चाहिए । जिस प्रकार विभिन्न भावों और रसों का आश्रय लेकर नेत्र सरकते हैं, उसी अनुक्रम से भौंह का संचालन होता है ।[४४]

उत्क्षेपः पतनं चैव भ्रकुटी चतुरं तथा ।।५३।।
निकुञ्चितं रेचितं च तथा स्वाभाविकं भवेत् ।

उत्क्षेप, पतन, भ्रकुटी, चतुर, निकुंचित, रेचित तथा स्वाभाविक (—ये सात भ्रुव कर्म) होते हैं ।

उत्क्षेप-पतन—

भ्रुवोरुद्गममुत्क्षेपः पातनं पतनं भवेत् ।।५४।।

भौंह का ऊपर उठना 'उत्क्षेप' और गिरना 'पतन' होता है ।

भ्रकुटी—

द्वयोर्मूलोर्ध्व विक्षेपाद् भृकुटी परिकीर्तिता ।

दोनों भौंहों के मूल से ही ऊपर उठने पर उसे 'भ्रकुटी' कहा गया है ।

चतुर—

चतुरं किञ्चिदुच्छ्वासान्मधुरायतया भ्रुवा ।।५५।।

थोड़े उच्छ्वास के साथ मधुरता से फैली भौंह 'चतुर' है ।

निकुंचित—

एकस्या उभयोर्वापि मृदुभङ्गान्निकुञ्चितम् ।

एक या दोनों भौंहों का कोमलता से टेढ़ा होना 'निकुंचित' है ।

रेचित

एकस्या ललितोत्क्षेपाद्रेचितं नाम कीर्तितम् ॥५६॥

एक भौंह का लालित्यपूर्ण ऊपर उठना 'रेचित' कहा गया है।

स्वाभाविक—

यथास्थिते स्वभावस्थे भ्रुवोः कर्म निबोध मे।

यथावत् स्थित होने पर 'स्वाभाविक' भ्रुव कर्म जानें।

भ्रू-प्रयोग—

समुत्क्षेपस्तु लीलायाः कारुण्यात्पतनं भवेत् ॥५७॥
क्रोधे च भ्रकुटीज्ञेया शृङ्गारे चतुरं तथा।

लीला में उत्क्षेप, करुण में पतन, क्रोध में भ्रकुटी और शृंगार में चतुर नामक भ्रुव कर्म होता है।

गण्ड कर्म

क्षामं कृशं तु विज्ञेयं फुल्लं विकसितं भवेत् ॥५८॥
सम्पूर्णं पूर्णमित्युक्तं कम्पितं परिधूनितम्।
सृक्काभिन्नं कुञ्चितकं सरोमाञ्चं तथाविधम् ॥५९॥
प्राकृतं तु स्वभावस्थं गण्डं प्रोक्तं मनीषिभिः।

कृश (दुबला) को 'क्षाम' जानना चाहिए, खिला या फूला हुआ (विकसित) 'फुल्ल' होता है, सम्पूर्ण को ही 'पूर्ण' कहा गया है, परिधूनित (फड़कता हुआ) 'कम्पित' है, मुख से लगा हुआ 'कुंचितक', अर्थानुरूप ही 'सरोमांच' और स्वाभाविक को 'प्राकृत' गण्ड (गाल) मनीषियों ने कहा है।[४५]

गण्ड प्रयोग—

क्षामं दुःखेतु कर्त्तव्यं फुल्लं हर्षप्रयोजयेत् ॥६०॥
पूर्णं तुष्टे तु कर्त्तव्यं तथा रोषे च कम्पितम्।
हास्ये त्वाकुञ्चितं स्पर्शे सरोमाञ्चं विधीयते ॥६१॥
प्राकृतं तु स्वभावस्थं त्वर्थयोगेन योजयेत्।

दुःख में क्षाम करना चाहिए, हर्ष में 'फुल्ल' का प्रयोग करें, तुष्टि (सन्तोष) में पूर्ण करें, रोष में कंपित, हास्य में आकुंचित, स्पर्श में सरोमांच का विधान करें तथा स्वाभाविक स्थिति में प्राकृत की अर्थानुसार योजना करें।

नासिका कर्म

नता मन्दा विकृष्टा च सोच्छ्वासा सविकूणिता ॥६२॥
स्वाभाविकी च कर्त्तव्या प्रयोगे नासिका बुधैः ।

नता, मन्दा, विकृष्टा, सोच्छ्वासा, विकूणिता और स्वाभाविकी—(ये छः प्रकार के) नासिका-कर्म बुद्धिमानों को नृत्त-प्रयोग में करना चाहिए ।[४६]

नतानता तु विज्ञेया मन्दानतपुटा भवेत् ॥६३॥
विकृष्टा कुञ्चिता चोर्ध्वं सोच्छ्वासा वायुपूरिता ।
संकुणात्कुणिता स्यात्स्वभावस्था स्वनासिका ॥६४॥

झुकी हुई नासिका को 'नत' जानें, जिसमें नासापुट झुके हों वह 'मन्दा' होती है, ऊपर की ओर सिकोड़ी हुई 'विकृष्टा' और वायुपूरित 'सोच्छ्वासा' है। शब्द करने से 'विकूणिता' तथा स्वाभाविक रूप से स्थित होने पर 'स्वाभाविकी' नासिका होती है ।

नता तु रुचिते कार्या मन्दा शोके विधीयते ।
तीव्रे गन्धे विकृष्टा तु सोच्छ्वासा तु तथा प्रिये ॥६५॥
विकूणिता जुगुप्सायां शेषा स्वाभाविकी मता ।

रुचि में नता करनी चाहिए, शोक में मन्दा का विधान करें, तीव्र गंध में विकृष्टा, प्रिय में सोच्छ्वासा, जुगुप्सा में विकूणिता तथा शेष (भावों में) स्वाभाविकी मानी गई है ।

दन्त कर्म

कुट्टनं खण्डनं छिन्नं चुक्कितं समता तथा ॥६६॥
जिह्वाधरौष्ठमर्दं वै दन्तकर्मणि कारयेत् ।

कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित तथा सम—(ये पाँच) दन्त-कर्म जिह्वा, अधर व ओष्ठ के मर्दन में करना चाहिये ।[४७]

कुट्टनं बलवच्छेदं खण्डनं तु विघट्टनम् ॥६७॥
छिन्नं निकृतमेव स्याच्चुक्कितं विद्धमेव च ।

बलपूर्वक छेदन करना 'कुट्टन', घिसना (रगड़ना), 'खण्डन', काटना ही 'छिन्न' और बींधना ही 'चुक्कित' है ।

व्याधौ तु कुट्टनं कार्यं उत्सादे खण्डनं भवेत् ॥६८॥
छिन्नं क्रोधे परं हास्ये समं शेषेषु कारयेत् ।

व्याधि में कुट्टन करना चाहिए, उत्साद (नाश करने में) खण्डन होता है, क्रोध में छिन्न, हास्य में चुक्कित तथा शेष (भावों में) सम होता है।

अधर कर्म

विवर्तनं तथा कम्पो विसर्गोऽथ विगूहनम् ॥६६॥
संदष्टश्च समुद्गश्च कर्माण्याधरजानि तु।

विवर्तन, कम्प, विसर्ग, विगूहन, संदष्ट, समुद्ग—(ये छः) अधर-कर्म हैं।[४८]

विवर्तित—

सृक्कासु वक्रकरणं विवर्तितमिति स्मृतम् ॥७०॥

(अधर को) किनारे से टेढ़ा करना 'विवर्तित' है।

कम्प—

वेपनं चापि विज्ञेयमधरस्य तु कम्पनम्।

अधर के थरथराने को 'कम्पन' जानना चाहिए।

विसर्ग—

यो निष्क्रमोऽधरस्याथ स विसर्ग इति स्मृतः ॥७१॥

अधर का खींचा जाना 'विसर्ग' जाना गया है।

विगूहन—

अन्तः प्रवेशनं चैव विनिगूहितमुच्यते।

(अधर को) अन्दर की ओर ले जाना 'विगूहन' कहा जाता है।

संदष्ट—

दन्तौष्टपीडनाच्चैव संदष्टकमिति स्मृतम् ॥७२॥

दाँत व औष्ठ के पीड़न से 'संदंष्ट' जाना जाता है।

समुद्गक—

पिण्डिताभ्युद्गतश्चैव समुद्गक इति स्मृतः।

दबाने से निकला हुआ अधर 'समुद्गक' जाना गया है।

अधर प्रयोग—

विवर्तितमसूयायां रोषे कम्पितमिष्यते ॥७३॥
भयानके विसर्गश्च कर्षणेऽथ विगूहनम्।

रतोन्माद विकारेषु संदष्ट वीररौद्रयोः ।।७४।।
समुद्गमनुकम्पायां शेषे कार्यं स्वभावजम् ।

असूया में विवर्तित, रोष में कम्पित, भयानक रस में विसर्ग, पीड़ित में विगूहन, रति-उन्मादविकार, वीर तथा रौद्र में संदष्ट, अनुकम्पा में समुद्ग तथा शेष में स्वाभाविक करें ।

उपाङ्गकर्माभिहितं तथैते
मया समासेन नरेन्द्रचन्द्र ।
कार्यः प्रयत्नोऽत्र सदा बुधेन
यस्मादुपाङ्गाश्रयमेव नृत्तम् ।।७५।।

हे नरेन्द्रचन्द्र ! ये उपांग-कर्म मैंने संक्षेप में बताए, इन्हें बुद्धिमानों द्वारा सदैव प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए, क्योंकि नृत्त उपांग के आश्रित ही होता है ।

।। इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्रसंवादे उपाङ्गिकाध्यायो नाम ।।२५।।

•

सप्तम अध्याय

(षड्विंशोऽध्यायः)

हस्ताभिनय

मार्कण्डेय:—

पताकस्त्रिपताकश्च तथा वै कर्तरी मुखः।
अर्धचन्द्रो ह्यरालश्च शुकतुण्डस्तथापरः ॥ १ ॥
मुष्टिश्च शिखराख्यश्च कपित्थः खटकामुखः।
सूच्यास्यः पद्मकोशश्चोरशीर्षो मृगस्य च ॥ २ ॥
काङ्गूलकोऽलपद्मश्च चतुरो भ्रमरस्तथा।
हंसास्यो हंसपक्षश्च संदंशो मुकुलस्तथा ॥ ३ ॥
असंयुताः करा ह्येते द्वाविंशतिरुदाहृताः।

पताक, त्रिपताक, कर्तरीमुख, अर्धचन्द्र, अराल, शुकतुण्ड, मुष्टी, शिखर, कपित्थ, खटकामुख, सूचीमुख, पद्मकोश, सर्पशीर्ष, कांगूल, अलपद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य, हंसपक्ष, संदंश व मुकुल—ये बाईस असंयुत हस्त बताए गए हैं।[४८]

अथ संयुक्तो हस्तान्गदतस्तान्निबोध मे ॥ ४ ॥
अञ्जलिश्च कपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्तथा।
खटका वर्धमानश्च उत्सङ्गो निषधस्तथा ॥ ५ ॥
दोलः पुष्पपुटश्चैव तथा मकर एव च।
गजदन्तो अवहित्थश्च वर्धमानस्तथैव च ॥ ६ ॥
एते वै संयुताहस्ता मया प्रोक्तास्त्रयोदश।

अब मैं संयुत हस्तों का वर्णन करता हूँ, उन्हें मुझसे जानो। अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटकावर्धन, उत्संग, निषध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदंत, अवहित्थ, वर्धमान—ये तेरह संयुत हस्त मैंने कहे।

नृत्तहस्तान्पुनश्चैव भूयो नाम निबोधत ॥ ७ ॥
चतुरस्र तथोद्वृत्तस्तथा लघुमुखौ स्मृतौ।
तथा चैव तु विज्ञेयो ह्यरालखटकामुखौ ॥ ८ ॥
आविद्धवक्रसूच्यासौ रेचितावर्धरेचितौ।

अवहित्थः पल्लवितो नितम्बः केशवर्धनो ॥ ९ ॥
लताख्यौ करिहस्तौ च पक्षद्योतावथाञ्चितौ ।
ज्ञेयौ गरुडपक्षौ च दण्डपक्षौ तथैव च ॥१०॥
ऊर्ध्वमण्डलजौ चैव पार्श्वमण्डलजावपि ।
पार्श्वोर्ध्वमण्डलौ चैव उरोमण्डलकौ तथा ॥११॥
मुष्टि स्वस्तिकावन्यौ तथा वै पद्मकोशकौ ।
अलपल्लव संज्ञौ च तथा चोल्वणसंज्ञितौ ॥१२॥
ललितौ वलितौ चैव ज्ञेया नृत्तकराः सदा ।

अब नृत्त हस्तों को नामपूर्वक मुझसे जानो। चतुरस्र, उद्वृत्त, लघुमुख, अराल खटकामुख, आविद्धवक्र, सूची, रेचित, अर्धरेचित, अवहित्थ, पल्लवित, नितम्ब, केशवर्धन, लता, करिहस्त, पक्षद्योत, अंचित, गरुडपक्ष, दण्डपक्ष, ऊर्ध्वमण्डल, पार्श्वमण्डल, पार्श्व-ऊर्ध्वमण्डल, उरोमण्डल, मुष्टि स्वस्तिक, अन्वय, पद्मकोश, अलपल्लव, उल्वण, ललित और वलित नामक नृत्त-हस्तों को सदा जानें।

अतः परं प्रवक्ष्यामि कराणां कर्मलक्षणम् ॥१३॥

इसके बाद हस्तों के लक्षण-विनियोग बताता हूँ।

असंयुत हस्तों के लक्षण-विनियोग

१. पताक हस्त—

प्रसारिताग्राः सहिता यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ।
कुञ्चितश्च तथाङ्गुष्ठः स पताक इति स्मृतः ॥१४॥

जिसमें पोरों सहित अंगुलियाँ फैली हुई हों तथा अंगूठा कुंचित हो वह 'पताक हस्त' जाना गया है।

एष प्रहारग्रहणे रोधने स्यात्प्रपातने ।
चलिताङ्गुलिरप्येष वायुवृष्टिनिरूपणे ॥१५॥
ऊर्ध्वगतश्च तथोत्साहे छत्रादिष्वप्यधोमुखः ।
पुष्करप्रहितस्ताले समः प्रचलिताङ्गुलिः ॥१६॥
पक्षोत्क्षेपे, रेचितक उत्क्षिप्तश्चैव धारणे ।

यह प्रहार करने, ग्रहण करने, रोकने व ठेलने में, चलती हुई अंगुलियों से वायु और वृष्टि के निरूपण में, उत्साह में ऊर्ध्वमुख, छत्र आदि दिखाने में

अधोमुख, ताल दिखाने में मृदंग पर सम व चलती हुई अंगुलियों सहित रखने से, पंखों से उड़ना दिखाने में रेचित तथा धारण में उत्क्षिप्त रखा जाता है।

२. त्रिपताक हस्त —

अस्यैवानामिकावक्रा त्रिपताकस्तथा भवेत् ॥१७॥

इस (पताक हस्त) में ही अनामिका टेढ़ी होने पर "त्रिपताक हस्त" होता है।

आवाहने प्रयुञ्जीत मुकुटाभिनये यतः।
प्रचलाङ्गुलिरप्येष लघुपक्षि निरूपणे ॥१८॥
तथानामिकया कार्यं तथैवाश्रुप्रमार्जने।
मङ्गल्यस्नपनं कार्यं शिरसश्च निवेशनम् ॥१९॥
श्रोत्रसंवरणं चैव कार्यं भूमिमुखेन तु।
भुजङ्गानामभिनयं भ्रमराणां तथैव च ॥२०॥

इसे आवाहन में तथा मुकुट के अभिनय में प्रयुक्त करें। इसमें ही चलती हुई अंगुलियों से छोटे पक्षियों का निरूपण करें। आँसू पोंछने में इसकी अनामिका का प्रयोग करें तथा मंगल-स्नान में इसे सिर पर रखें। कान बन्द करने में इसे अधोमुख प्रयोग करें तथा इसी के द्वारा भुजंगों व भँवरों का अभिनय करें।

३. कर्तरीमुख हस्त —

त्रिपताके यदा हस्ते भवेत्पृष्ठावलोकिनी।
तर्जनी तु तदा ज्ञेयः कर्तरीमुख संज्ञकः ॥२१॥

त्रिपताक हस्त में जब तर्जनी पीछे की ओर मुड़ी हो तब "कर्तरीमुख" नामक हस्त जानना चाहिए।

कार्योऽयं पथिचारिषु भिन्ने च पतनेषु च।

इसे पथ पर चलने, अलग करने व गिरने (के भावों) में प्रयुक्त करें।

४. अर्धचन्द्र हस्त—

अनामिका तु साङ्गुष्ठा अर्धचन्द्रे करे भवेत् ॥२२॥

अर्धचन्द्र हस्त में अनामिका अंगूठे के साथ होती है।

बालचन्द्रोऽभिनेयः स्यात्तालाश्च तरवस्तथा।
मेखला जघनं चैव कुर्याच्चानेन कुण्डलम् ॥२३॥

इससे बालचन्द्र का अभिनय करें, ताल, तरु, मेखला, जाँघ व कुण्डल (के अभिनय में) भी इसे करें।

५. अराल हस्त—

खण्डा प्रदेशिनी कार्या अङ्गुष्ठः कुञ्चितस्तथा।
शेषा भिन्नोर्ध्ववलिता अरालेऽङ्गुल्यः करे ॥२४॥

अराल हस्त में तर्जनी को मोड़ें, अंगूठा कुंचित करें, शेष अंगुलियों को अलग-अलग ऊपर की ओर वलित करें (मोड़ें)।

गाम्भीर्यसत्त्वशौण्डीर्यकेशसङ्ग्रहणादिषु।
स्वेदस्य चापनयने रोषे चैव करो भवेत् ॥२५॥

गाम्भीर्य, सत्त्व, अभिमान, बाल पकड़ने, पसीना पोंछने और क्रोध में यह हस्त होता है।

६. शुकतुण्ड हस्त—

अरालः शुकतुण्डश्च वक्रितानामिकाङ्गुलिः।
नाहं त्वमित्यर्थैतेन नित्य चाभिनयेद् बुधः ॥२६॥

अराल हस्त में अनामिका टेढ़ी कर देने पर शुकतुण्ड हस्त होता है। "मैं नहीं तुम"--इस भाव में बुद्धिमान जन इसका नित्य प्रयोग करें।

७. मुष्टि हस्त—

अङ्गुल्यो यस्य हस्तस्य तलमध्येऽग्रसंस्थिताः।
तासामुपरिचाङ्गुष्ठः स मुष्टिरिति संज्ञितः ॥२७॥

जिस हस्त में अंगुलियों के पौरुवे हथेली के मध्य में स्थित हों और उनके ऊपर अंगूठा हो वह मुष्टि है।

एष प्रहारे व्यायामे निर्दयस्तनपीडने।
संधारणेऽसियष्ट्योश्च ग्रहणे कुन्तदण्डयोः ॥२८॥

यह प्रहार, व्यायाम, निर्दयता से पीटने, तलवार या लाठी पकड़ने, भाला-डंडा उठाने में (प्रयोग करें)।

८. शिखर हस्त—

ऊर्ध्वाङ्गुष्ठोऽयमेव स्यात्करः शिखरसंज्ञितः।
एष रश्मिग्रहे कार्यश्चापाङ्कुशधनुर्ग्रहे ॥२९॥

इसी (मुष्टि हस्त) में अंगूठा ऊपर उठा होने पर शिखर हस्त कहा जाता है। यह लगाम पकड़ने, चाप, अंकुश व धनुष धारण करने में (प्रयोग करें)।

९. कपित्थ हस्त—

मुष्टिमध्यगताङ्गुष्ठः कपित्थ इति कीर्तितः।
अनेनाभिनयः कार्यो मध्ये चक्रे शरे तथा ॥३०॥

मुष्टि के मध्य में गया हुआ अंगूठा होने पर वह कपित्थ हस्त कहा जाता है। इससे मध्य, चक्र, शर आदि का अभिनय करें।

१०. खटकामुख हस्त—

उत्क्षिप्तवक्रा तु यदानामिका सकनीयसी।
अस्यैव तु कपित्थस्य ततः स्यात्खटकामुखः ॥३१॥

इसी कपित्थ हस्त में जब अनामिका कनिष्ठिका के साथ ऊपर की ओर मुड़ी हो तब खटकामुख होता है।

होत्रे छत्रग्रहे चैव कर्षणे व्यजने तथा।
स्रग्दाम धारणे कार्यः बुधैः सङ्केतसङ्ग्रहे ॥३२॥

हवन, छत्र पकड़ने, खींचने, पंखा करने, माला धारण करने व संकेत ग्रहण करने में बुधजन इसे करें।

११. सूचीमुख हस्त—

प्रसृता तर्जनी चात्र यदा सूचीमुखस्तदा।
निशादिनं चाभिनेये नेत्रे शक्रमहेशयोः ॥३३॥

इस (खटकामुख हस्त) में तर्जनी फैला देने पर सूचीमुख हस्त होता है। इससे रात-दिन तथा इन्द्र व शिवजी के नेत्रों का अभिनय करें।

१२. पद्मकोश हस्त—

अस्याङ्गुल्यस्तु विरलास्सहाङ्गुष्ठेन कुञ्चिताः।
ऊर्ध्वा हंसमुखस्यैव सभवेत्पद्मकोशकः ॥३४॥

इस हंसमुख की अंगुलियाँ अंगूठे के साथ ऊपर की ओर अलग-अलग मुड़ी हों वह पद्मकोश होता है।

१३. सर्पशीर्ष हस्त—

श्लिष्टाङ्गुष्ठौ निम्नमध्यः पताकोऽहिशिरो भवेत्।
सलिलस्य प्रदाने तु कार्यं तेन च सूचनम् ॥३५॥

मिले हुए अंगूठे वाले पताक हस्त को बीच से झुका देने पर सर्पशीर्ष हस्त होता है। इससे जलदान व सूचना करें।

१४. मृगशीर्ष हस्त—

अधोमुखीनां सर्वासामङ्गुलीनां यदा भवेत्।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ चोर्ध्वौ तदा स्यान्मृगशीर्षकः ॥३६॥

सभी अंगुलियाँ जब अधोमुखी हों, कनिष्ठिका व अंगूठा ऊर्ध्व हो तब मृगशीर्ष हस्त होता है।

सूचिते छेदिते कार्यं शक्ते चोच्चालने तथा।

सूचना, छेदन, शक्ति और उच्चालन में इसे प्रयोग करें।

१५. कांगूल हस्त—

त्रेताग्नि संस्थिता मध्या तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्यदा ॥३७॥
काङ्गूलेऽनामिका वक्रा तथा चोर्ध्वा कनीयसी।
अनेन खलु कर्त्तव्यं फलानां तु निरूपणम् ॥३८॥

जब तर्जनी-अँगूठे पर मध्यमा हो, अनामिका वक्र और कनिष्ठिका ऊर्ध्व हो तब कांगूल हस्त होता है। इससे फलों का निरूपण करना चाहिए।

१६. अलपद्म हस्त—

आवर्त्यन्ते करतले यस्याङ्गुल्यः करस्य वै।
पार्श्वगता विकीर्णाश्च कोलपद्म इति स्मृतः ॥३९॥
प्रतिषेधे करे योज्यो नास्ति शून्येषु चाप्यथ।

जिस हस्त की अंगुलियाँ करतल में क्रम से बार-बार आती हैं और किनारे से आई हुई बिखर जाती हैं वह अलपद्म जाना गया है। इस हस्त की प्रतिषेध, 'नहीं है'—कहने तथा शून्य दिखाने में योजना करें।

१७. चतुर हस्त—

तिस्रः प्रसारिताङ्गुल्यस्तथा चोर्ध्वा कनीयसी ॥४०॥
तस्या मध्याश्रितोऽङ्गुष्ठः करः सचतुरः स्मृतः।
वचसां विनियोगे च पाठ्ये चैव प्रयोजयेत् ॥४१॥

जहाँ तिरछी फैली हुई अंगुलियाँ, ऊर्ध्व कनिष्ठिका, मध्यमा पर टिका हुआ अंगूठा हो वह चतुर हस्त होता है। इसे वचनों के विनियोग में और पाठ्य में प्रयोग करें।

अनेनैव तथा कार्यं वर्णानां तु निरूपणम् ।
ऊर्ध्वस्थेन भवेच्छ्वेतं रक्ते स्यादर्धमण्डलम् ॥४२॥
मण्डलेन भवेत्पीतं नीलं च मृदिते भवेत् ।
स्वभावस्थेन कृष्णं च शेषा वर्णास्तथैव च ॥४३॥

इससे ही रंगों का निरूपण करें। यह ऊर्ध्व स्थित होने पर श्वेत होता है, रक्त में अर्धमण्डल रहता है, मण्डल से पीत होता है, मर्दन से नील होता है, स्वाभाविक रूप से स्थित होने पर कृष्ण और वैसे ही शेष वर्ण।

१८. भ्रमर हस्त—

मध्यमाङ्गुष्ठ सन्दंशो वक्रा चैव प्रदेशिनी ।
ऊर्ध्वमन्याः प्रकीर्णाश्च भ्रमरश्च तदा भवेत् ॥४४॥
पद्मादि ग्रहणे कार्यं कर्णपूरे तथाप्ययम् ।

जब मध्यमा और अंगूठा मिले हों, तर्जनी वक्र हो, तथा शेष अंगुलियाँ ऊपर फैली हों तब भ्रमर हस्त होता है। कमल आदि के ग्रहण करने व कर्णपूर में इसे करें।

१९. हंसास्य हस्त—

तर्जनी मध्यमाङ्गुष्ठास्त्रेताग्निस्था निरंतरम् ॥४५॥
भवेयुर्हंसवक्त्रस्य शेषा ह्यन्या प्रसारिताः ।
श्लक्ष्ण लाघव निस्सारमार्दवेषु प्रयोजयेत् ॥४६॥

तर्जनी, मध्यमा और अंगूठा तीनों के निरन्तर साथ होने तथा शेष अंगुलियों के फैले रहने पर हंसास्य हस्त होता है। कोमलता, लाघव, निस्सार, मार्दव (आदि भावों में) इसका प्रयोग करें।

२०. हंसपक्ष हस्त—

तिर्यक्पिण्डीकृता यस्मिन्नुन्नता च कनिष्ठिका ।
अङ्गुष्ठकुञ्चितस्त्वेवं हंसपक्ष इति स्मृतः ॥४७॥

जब सभी अंगुलियाँ तिरछी व गोलाई लिए मिली रहें, केवल कनिष्ठिका उन्नत हो तथा अंगूठा भी मुड़ा रहे तब हंसपक्ष हस्त होता है।

गण्डसंश्रयमेतेन भोजनः सपरिग्रहः ।
स्पर्शे चैवानुलेपार्थे कार्यस्संवाहने तथा ॥४८॥

गाल पर रखे हुए इसके द्वारा परिवार के साथ भोजन, स्पर्श, अनुलेपन व संवाहन (सूचित) करें।

२१. सन्दंश हस्त—

तर्जन्यङ्गुष्ठसन्दंशस्त्वरालस्य यदा भवेत् ।
निर्भुग्न तलमध्यश्च स संदंश इति स्मृतः ।।४९।।

जब अराल हस्त में तर्जनी व अंगूठे का संदंश (बार-बार मिलना) होता है तथा हथेली निर्भुग्न रहती है तब संदंश हस्त होता है ।

संदंशस्त्रिविधोज्ञेयस्त्वग्रजो मुखजस्तथा ।
तथा पार्श्वकृतश्चैव तस्य कर्मणि मे शृणु ।।५०।।

संदंश तीन प्रकार का जानें—अग्रज, मुखज एवं पार्श्वकृत । उनके कर्मों को मुझसे सुनो ।

संदंशो ग्रहणे कार्यश्शल्योद्धारे तथाग्रजः ।
आलेखरञ्जने चैव स्तनस्य पीडने तथा ।।५१।।
यज्ञोपवीती पार्श्वस्थः शिरः संदर्शने तथा ।

अग्रज संदंश ग्रहण करने, काँटा निकालने, चित्र बनाने व स्तन-पीड़न में (प्रयुक्त करें) । यज्ञोपवीत एवं शिर संदर्शन में पार्श्व संदंश होता है ।

२२. मुकुल हस्त—

समागताग्राङ्गुलिको मुकुलः पद्मकोशकः ।।५२।।
देवार्चाकरणे कार्यो बलौ पद्म निरूपणे ।

पद्मकोश हस्त में जब अंगुलियों के पोरुवे आकर मिल जाते हैं तब मुकुल हस्त होता है । देवताओं का अर्चन करने, बल व पद्म के निरूपण में इसे करें ।

असंयुता करा ह्येते यथावत्कीर्तिता मया ।।५३।।

ये असंयुत हस्त मेरे द्वारा यथावत् कहे गए ।

संयुत हस्तों के लक्षण-विनियोग

१. अंजलि हस्त —

पताकाभ्यां हस्ताभ्यां सम्पुटोऽञ्जलिरुच्यते ।
देवतानां गुरुणां च पितृणां चेष्यते पुनः ।।५४।।

दो पताक हस्तों का सम्पुट (मिलना) अंजलि कहा जाता है । देवता, गुरुजन व पितरों को (प्रणाम करने में) इसे प्रयुक्त किया जाता है ।

२. कपोत हस्त—

अन्योन्यपार्श्वसक्ताभ्यां कराभ्यां स्यात्कपोतकः ।
शीते भये च कार्योऽयं विनयोपगमे तथा ॥५५॥

एक-दूसरे की बगल में गए हुए हाथों से कपोत हस्त होता है। शीत, भय, विनय व उपगम में इसे करें।

३. कर्कट हस्त—

अङ्गुल्यो यस्य हस्तस्य अङ्गुल्यन्तरनिस्सृताः ।
स कर्कट इति ज्ञेयः कर्त्तव्यस्तु विजृम्भिते ॥५६॥

जब दोनों हाथ की सभी अंगुलियाँ एक-दूसरे के अन्तर से निकली रहें तब कर्कट हस्त होता है। इसे जमुहाई लेने में करें।

४. स्वस्तिक हस्त—

मणिबन्धनविन्यस्तावरालौ वर्धमानकौ ।
उत्तानौ नतपार्श्वस्थौ स्वस्तिकः परिकीर्तितः ॥५७॥

मणिबन्ध (कलाई) से लिपटे दोनों अराल या वर्धमान हस्त जब ऊपर की ओर उठे तथा बगल से झुके रहें तब उन्हें स्वस्तिक हस्त कहा जाता है।

५. खटकावर्धमान हस्त—

खटकः खटके न्यस्य खटकावर्धमानकः ।
शृङ्गारार्थे प्रयोक्तव्यं प्रणामकरणेषु च ॥५८॥

एक खटकामुख हस्त पर दूसरा खटकामुख रखने से खटकावर्धमान हस्त होता है। शृंगार के अर्थ में और प्रणाम करने में इसका प्रयोग करें।

६. उत्संग हस्त—

अरालौ तु विपर्यस्तावुत्तानौ वर्धमानकौ ।
उत्सङ्ग इति विज्ञेयः स्पर्शस्य ग्रहणे करः ॥६०॥

दोनों हाथों के उत्तान वर्धमान अराल हस्तों के विपर्यय से उत्संग हस्त जानें। स्पर्श के ग्रहण में इसे करें।

७. निषध हस्त—

मुकुलं तु यदा हस्तं कपित्थं परिवेष्टयेत् ।
स विज्ञेयस्तदा हस्तो निषधो नाम नामतः ॥६१॥
संक्षिप्ते चैष निक्षिप्ते तथा कार्यः प्रपीडिते ।

जब मुकुल हस्त को कपित्थ हस्त से परिवेष्टित किया जाए तब वह विवध नामक हस्त जाना जाता है। इसे संक्षिप्त, निक्षिप्त व प्रपीड़ित के भावों में करें।

८. दोल हस्त—

पताकौ लम्बितौ हस्तौ दोलेति परिकीर्तिता ॥६२॥
ध्यानादि दाने कर्त्तव्यो भक्ष्यादिकरणेषु च।

दोनों लम्बे लटके हुए पताका हस्त दोल कहे गए हैं। ध्यान आदि में, दान तथा भक्षण करने में इसे करें।

९. पुष्पपुट हस्त—

द्वितीय पार्श्व संश्लिष्टः पूर्वः पुष्पपुटः स्मृतः ॥६३॥
पूर्वाणि चाभिनेयानि करणान्येव पार्थिव।

पूर्वकथित दोनों पताक हस्त एक-दूसरे की बगल से मिले होने पर उन्हें पुष्पपुट हस्त कहा जाता है। हे पार्थिव! इससे पूर्वकथित करणों का अभिनय करें।

१०. मकर हस्त—

पताकौ तु यदा हस्तौ मूर्धन्यस्तावधोमुखौ ॥६४॥
उपर्युपरि विन्यस्तौ तदा स मकरः करः।
सिंह व्याघ्र मृगाद्यानां कर्त्तव्योऽभिनयो भवेत् ॥६५॥

दोनों हाथों के पताका हस्त जब एक-दूसरे पर क्रमशः ऊर्ध्व और अधोमुख रखे हों तब वह मकर हस्त होता है। सिंह व्याघ्र, मृग आदि के अभिनय में करें।

११. गजदन्त हस्त—

अञ्चितौ कूर्परांसौ तु यदा स्यात्सर्पशीर्षके।
गजदन्तस्तदा नाम्ना कार्यः शैलनिबर्हणे ॥६६॥

जब सर्पशीर्ष हस्त में दोनों कोहनी व कंधे अंचित हों तब गजदन्त हस्त होता है। इस पर्वत उखाड़ने में करें।

१२. अवहित्थ हस्त—

शुकतुण्डौ करौ कृत्वा वक्षस्यभिमुखाञ्चितौ।
शनैरभिमुखा विद्धाववहित्थ इति स्मृतः ॥६७॥

दौर्बल्य श्वसिते कार्यो गात्राणां च निदर्शने ।

दोनों हाथों से शुकतुण्ड हस्त बनाकर वक्ष के सामने अंचित कर फिर धीरे-धीरे अभिमुख आविद्ध करने को अवहित्थ हस्त जानें । दुर्बलता, श्वास लेने तथा अंगों को दिखाने में इसे प्रयोग करें ।

१३. वर्धमान हस्त—

ज्ञेयो वै वर्धमानस्तु हंसपक्षौ पराङ्मुखौ ।।६८।।
जालवातायनादीनां प्रयोगस्तेन चेष्यते ।

दोनों हाथों के पराङ्मुख हंसपक्षों को वर्धमान जानें । जाली, वातायन आदि में इसका प्रयोग कहा गया है ।

संयुतानां कराणां तु लक्षणं कथितं मया ।।६९।।
एवं ज्ञेयाः कराः सर्वे नानारससमुद्भवाः ।
अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नृत्तहस्तं नृत्तसमाश्रयम् ।।७०।।

ये संयुत हस्तों के लक्षण मैंने कहे । इसी प्रकार सभी हस्तों को विभिन्न रसों से उत्पन्न जानें । अब आगे मैं नृत्त के आश्रयभूत नृत्त-हस्तों का वर्णन करूँगा ।

नृत्त हस्त

१. चतुरस्र—

वक्षसोऽष्टाङ्गुलस्थौ तु प्राङ्मुखौ खटकामुखौ ।
समान कूर्परांसौ तु चतुरस्रौ प्रकीर्तितौ ।।७१।।

जब दोनों खटकामुख हस्त वक्ष से आठ अंगुल पर आमने-सामने स्थित हों, कोहनी व कंधे भी समान रहें तब 'चतुरस्र हस्त' कहा जाता है ।

२. तालवृन्त (उद्वृत्त)—

हंसपक्षौ स्मृतौ हस्तौ व्यावृत्तौ तालवृन्तवत् ।
उद्वृत्ताविति विज्ञेयावथवा तालवृन्तकौ ।।७२।।

जब दोनों हाथ हंसपक्ष मुद्रा में तालवृन्त के समान फैले हों तब उन्हें 'उद्वृत्त' या 'तालवृन्त' हस्त जानें ।

३. तलमुख—

चतुरस्रीकृतौ हस्तौ हंसपक्षीकृतौ तथा ।
तिर्यङ्मुखावूर्ध्वतलौ ज्ञेयौ तलमुखाविति ।।७३।।

चतुरस्र तथा हंसपक्ष किए दोनों हाथ जब तिरछे तथा ऊर्ध्वतल रहें तब उन्हें ''तलमुख' हस्त जानें।

४. अराल खटकामुख—

तावेव मणिबन्धान्तावरालकविच्युतौ करौ।
ज्ञेयावभिनये त्वेतावरालखटकामुखौ ॥७४॥

वे (तलमुख वाले) दोनों हाथ ही जब मणिबन्ध से अराल होकर अलग हों तब उन्हें अभिनय में 'अरालखटकामुख' जाना जाता है।

५. आविद्ध—

भुजांसकूर्पराग्रैस्तु कुटिलावर्तितौ करौ।
अधोमुखतलाविद्धावाविद्धाविति कीर्तितौ ॥७५॥

भुजा, कंधे व कोहनी के आगे से कुटिल आवर्तित (टेढ़े-मेढ़े मुड़े) दोनों हाथ जब अधोमुख तल व आविद्ध (लिपटे) हों तब उन्हें 'आविद्ध' कहा गया है।

६. सूचीमुख—

सर्पशीर्षौ यदा हस्तौ भवेतां स्वस्तिकस्थितौ।
तिर्यक् प्रसारितास्यौ च ज्ञेयौ सूचीमुखाविति ॥७६॥

जब तिरछे फैले मुख वाले दोनों सर्पशीर्ष हस्त स्वस्तिकाकार (Cross) स्थित हों तब उन्हें 'सूचीमुख' हस्त जानें।

७. रेचित—

रेचितौ चापि विज्ञेयौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ।
प्रसारितोत्तानतलौ रेचितावेव संज्ञितौ ॥७७॥

तेजी से घूमते हुए दोनों हंसपक्ष हस्तों को 'रेचित' जानें तथा उत्तान प्रसारित तलों को भी रेचित नाम दिया है।

८. अर्धरेचित—

चतुरस्रो भवेद्वामः सव्यहस्तश्च रेचितः।
विज्ञेयो नृत्ततत्त्वज्ञैरर्धरेचित संज्ञितः ॥७८॥

बाँया हाथ चतुरस्र हो और दाहिना रेचित तब नृत्त-तत्त्वज्ञों ने उसे 'अर्ध-रेचित' नाम दिया है।

९. अवहित्थ—

अञ्चितौ कूर्पराभ्यां तु त्रिपताकौ यदा करौ।
किञ्चित्तिर्यग्गतावेतावहित्थः प्रकीर्तितः ॥७९॥

जब दोनों त्रिपताक हस्त कोहनी से अंचित व तिरछे गए हुए हों तब वे 'अवहित्थ' कहे गए हैं।

१०. पल्लव—

मणिबन्धननिर्मुक्तौ शिथिलौ पल्लवौ स्मृतौ।

मणिबन्ध से छूटे दोनों ढीले हाथ 'पल्लव' जानें।

११. नितम्ब—

बाहुशीर्षविनिष्क्रान्तौ नितम्बौ परिकीर्तितौ ॥८०॥

कन्धों से निकलते दोनों हाथ 'नितम्ब' कहे गए हैं।

१२. केशबन्ध—

अंसदेशे प्रवृत्तौ तु परिपार्श्वोत्थितौ तथा।
विज्ञेयौ केशबन्धाख्यौ करावाचार्यसम्मितौ ॥८१॥

कंधों की ओर प्रवृत्त तथा अगल-बगल से उठे हुए दोनों हाथ आचार्यों द्वारा सम्मत "केशबन्ध" हस्त जानें।

१३. लता—

तिर्यक् प्रसारितावेव पार्श्वसंस्थौ तथैव च।
लताख्यौ तु करौ ज्ञेयौ नृत्ताभिनयनं प्रति ॥८२॥

तिरछे फैले हुए और पार्श्व में संस्थित दोनों हाथ नृत्ताभिनय में "लता" नाम से जाने जाते हैं।

१४. करि—

समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वविलोडितः।
द्वितीयः खटकाख्यश्च करिहस्तः प्रकीर्तितः ॥८३॥

एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में विलोड़ित और समुन्नत लता हस्त एक हाथ से तथा दूसरे हाथ से खटकामुख हस्त बनाने को "करि" हस्त कहा गया है।

१५. पक्षवंचितक—

कटिशीर्षे निविष्टाग्रौ त्रिपताकौ यदा करौ।
पक्षवञ्चितकौ नाम तदा ज्ञेयौ प्रयोक्तृभिः ॥८४॥

जब दोनों त्रिपताक हस्त कटिशीर्ष पर रखे हों तब प्रयोक्ताओं को उसे 'पक्षवंचितक' जानना चाहिए ।

१६. पक्षोद्योत—

तावेव तु परावृत्तौ पक्षोद्योतौ करावि‍ति ।

वे (पक्षवंचितक हस्त) ही परावृत्त होने पर उन्हें "पक्षोद्योत" जानें ।

१७. गरुडपक्ष—

अधोमुखतलाविद्धौ ज्ञेयौ गरुडपक्षकौ ॥८५॥

उन (पक्षवंचितक वाले दोनों त्रिपताक हस्तों) को ही अधोमुख तल तथा आविद्ध दशा में रखने पर 'गरुड़पक्ष' जानें ।

१८. दण्डपक्ष—

तथा प्रसारित भुजौ दण्डपक्षाविति स्मृतौ ।

वैसे ही फैली हुई भुजाओं से "दण्डपक्ष" हस्त जानें ।

१९. ऊर्ध्वमण्डल—

तौ चोर्ध्वमण्डलौ ज्ञेयावूर्ध्वं देशविवर्तनात् ॥८६॥

उनके ही ऊपर की ओर विवर्तन से 'ऊर्ध्वमण्डल' जानें ।

२०. पार्श्वमण्डल—

तावेव पार्श्वं विन्यस्तौ विज्ञेयौ पार्श्वमण्डलौ ।

उनके ही पार्श्व में रखे जाने पर "पार्श्वमण्डल" जानें ।

२१. उरोमण्डल—

वेष्टितोद्वेष्टितौ हस्तावुरोमण्डलौ स्मृतौ ॥८७॥

आवेष्टित-उद्वेष्टित अवस्था में रखे हुए दोनो हाथों से "उरोमण्डल" जानें ।

२२. स्वस्तिक—

तावेव मणिबन्धान्ते स्वस्तिकाकृतिसंज्ञितौ ।
स्वस्तिकाविति ··· ··· ··· ॥

उनके ही कलाई के पास स्वस्तिकाकार रखा होने पर "स्वस्तिक" जानें ।

२३ प्रकीर्णक—

··· ··· ··· विच्युतौ च प्रकीर्णकौ ॥८८॥

स्वस्तिक हस्तों के अलग होने पर उन्हें 'प्रकीर्णक' जानें ।

२४. पद्मकोश—

द्वावेव पद्मकोशाभौ पद्मकोशाविति स्मृतौ ।

दोनों हाथों से पद्मकोश हस्त बनाने पर उसे 'पद्मकोश' नामक नृत्त हस्त कहा गया है।

२५. अलपल्लव—

करावुद्वेष्टिताग्रौ तु विज्ञेयावलपल्लवौ ॥८९॥

आगे की ओर से उद्वेष्टित हाथों से 'अलपल्लव' जानें।

२६. उल्वण—

ऊर्ध्वं प्रसारितौ विद्धौ विज्ञेयावुल्वणाविति ।

दोनों हाथों के ऊपर फैले व आविद्ध होने पर 'उल्वण' जानें।

२७. ललित—

पल्लवौ तु शिरोदेशे संप्राप्तौ ललिताविति ॥९०॥

दोनों पल्लव हस्तों के सिर पर स्थिति से 'ललित' होता है।

२८. वलित—

कूर्परस्वस्तिकन्यस्तौ ललितौ वलितौ स्मृतौ ।

कोहनी से स्वस्तिकाकार रखे दोनों ललित हस्तों को "वलित" कहा गया है।

संयुता वियुताश्चैव नृत्तहस्ता प्रकीर्तिताः ॥९१॥
नानार्थं रससंयुक्तं प्रयोगं कालसंश्रयम् ।
विज्ञेयं नृत्तहस्तानां तेन नाभिहितं मया ॥९२॥
व्याधिग्रस्ते जरार्ते च नियमस्थे भयार्दिते ।
मत्ते प्रमत्ते चिन्तायां नाभिनेयः करो भवेत् ॥९३॥

ये संयुत और वियुत नृत्त हस्त कहे गए। विविध अर्थ और रस से संयुक्त नृत्त हस्तों का प्रयोग काल के आश्रित जानें, उन्हें मेरे द्वारा नहीं बताया गया है। किन्तु, व्याधिग्रस्त, जरार्त, नियमस्थ, भयार्दित, मत्त, प्रमत्त और चिन्ता की स्थिति में ये हस्त अभिनेय नहीं होते।

हस्त करण—

उद्वेष्टं समवेष्टं च विवेष्टितविवर्तिते ।
कर्मेदं नृत्तहस्तानां विज्ञेयं च चतुर्विधम् ॥९४॥

नृत्त हस्तों के ये चार प्रकार के कर्म जानें—उद्वेष्टित, समवेष्टित, विवेष्टित तथा विवर्तित।[४०]

हस्त प्रयोग विधि—

कार्या ललित सञ्चारा नृत्तहस्तास्सदा बुधैः।
लालित्यमेव विज्ञेयं नृत्तस्य प्रतिबोधनम् ॥६५॥

बुद्धिमान लोग नृत्त हस्तों का ललित संचार करें। लालित्य को ही नृत्य का प्रतिबोधक जानें।

देशं कालं प्रयोगं च ह्यर्थयुक्तिमवेक्ष्य च।
हस्ता एते प्रयोक्तव्याः स्त्रीणां नृणां च नर्तकैः ॥६६॥

स्त्री और पुरुष नर्तकों द्वारा देश, काल, प्रयोग, अर्थ और युक्ति को देख कर ही इन हस्तों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

हस्ता मयैते कथिता नृवीर
सर्वं करायत्तमिदं हि नृत्तम्।
यत्नस्तु कार्यस्तु करेषु तस्मा—
च्चातुर्यलास्याभिनयोपपन्नम् ॥६७॥

हे नर वीर! मेरे द्वारा ये हस्त कहे गए। यह सम्पूर्ण नृत्य करायत्त (अर्थात् हाथों से होने वाला) ही है, इस कारण चतुराई पूर्ण लास्य अभिनय से उपपन्न हाथों की क्रियाएँ प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए।

॥इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्र संवादे हस्ताध्यायोनाम ॥२६॥

अष्टम अध्याय

(सप्तविंशोऽध्यायः)

अभिनय भेद

मार्कण्डेयः —

वाचिकश्च तथा हार्यस्त्वाङ्गिकस्सात्त्विकस्तथा ।
चतुष्प्रकारोऽभिनयः कीर्तितो नाट्यकोविदैः ।।१।।

वाचिक, आहार्य, आंगिक और सात्त्विक—इन चार प्रकार का अभिनय नाट्य-कोविदों द्वारा बताया गया है ।[५१]

आहार्य अभिनय विधि—

वाचिको वचसा प्रोक्तः शृण्वाहार्यं नराधिप ।
चतुर्विधं तु विज्ञेयं पुस्तोऽलंकार एव च ।।२।।
तथाङ्गरचना चैव ज्ञेया सञ्जीवमेव च ।

वाचिक अभिनय वाणी से कहा गया है । हे नराधिप ! आहार्य सुनो । (इसे) पुस्त, अलंकार, अंग-रचना और संजीव—चार प्रकार का जानो ।[५२]

पुस्त रचना—

मृदा वा दारुणावापि वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा ।।३।
लोहैरनुकृतिर्वापि पुस्त इत्यभिधीयते ।

मिट्टी, लकड़ी, कपड़ा, चमड़ा या लोहे की अनुकृति को पुस्त कहा जाता है ।[५३]

देव दानव यक्षानां गजाश्वमृगपक्षिणाम् ।।४।।
कार्याणि प्रतिशीर्षाणि नाट्यज्ञैः पुस्तकर्मणा ।

देव, दानव, यक्ष, गज, अश्व, मृग व पक्षियों का प्रतिशीर्ष (मुखौटा) नाट्यज्ञों को पुस्त-कर्म से करना चाहिए ।

अलंकार विधान—

अलङ्कारस्तु विज्ञेयो माल्याभरणवाससाम् ।।५।।

माला, आभूषण व वस्त्रों से अलंकार जानें ।[५४]

नानाविधः समायोगो ह्यङ्गोपाङ्गविनिर्गतः ।
तच्च कार्योऽनयोर्बुध्वा नियोगं जातिमेव च ।।६।।
आधिपत्यं तथा स्थानं देशं च नृपसत्तम ।

(इनका) अंग-उपांगों से विनिर्गत कई प्रकार का समायोग है । हे नृप-सत्तम ! उनका नियोग जाति, आधिपत्य, स्थान और देश को जानकर करें ।

अंग रचना—

अतोऽङ्गरचनां तुभ्यं वक्ष्यामि नृप वर्णजाम् ।।७।।

हे नृप ! अब मैं तुम्हें रंगों से होने वाली अंग-रचना बतलाता हूँ ।[५५]

श्वेतोरक्तस्तथापीतः कृष्णो हरितमेव च ।
मूलवर्णाः समाख्याताः पञ्चपार्थिवसत्तम ।।८।।

हे पार्थिवसत्तम ! पाँच मूल रंग कहे गए हैं— सफेद, लाल, पीला, काला और हरा ।

एकद्वित्रिसमायोगाद् भावकल्पनया तथा ।
संख्यैवान्तरवर्णानां लोके कर्तुं न शक्यते ।।९।।

एक, दो या तीन रंगों के मिला देने व उनके भाव-कल्पन से रंगों के अन्तर्भेदों की संसार में गणना नहीं की जा सकती ।

अत्यर्थं समायोगित्वाल्लोकेऽहं नृपपुङ्गव ।
विभागं संप्रवक्ष्यामि वर्णयोः श्यामगौरयोः ।।१०।।

हे नृप पुंगव ! मैं अर्थ के अति समायोग से संसार में होने वाले श्याम और गौर वर्ण के विभाग बताता हूँ ।

द्विप्रकारा छविर्यस्मात्सर्वस्येह प्रकीर्तिता ।
गौरीपञ्चविधा तत्र श्यामा द्वादशधा भवेत् ।।११।।

यहाँ सब दो प्रकार की ही छवि कही गई है । इनमें से गौरी पाँच प्रकार की व श्यामा बारह प्रकार की कही है ।

रुक्मगौरी दन्तगौरी स्फुट चन्दन गौर्यपि ।
शरद्गौरी चन्द्रकवद्गौरी पञ्चविधा स्मृता ।।१२।।

गौरी (छवि) पाँच प्रकार की कही गई है—रुक्मगौरी, दन्तगौरी, चन्दन-गौरी, शरदगौरी, चन्द्रकवद्गौरी ।

रक्तश्यामा भवेत्पूर्वं मुद्गश्यामा त्वनन्तरम् ।
ततो दूर्वाङ्कुरश्यामा पाण्डुश्यामा च पार्थिव ॥१३॥
ततश्च हरितश्यामा पीतश्यामा ततो भवेत् ।
ततः प्रियङ्गुश्यामा च कपिश्यामा च पार्थिव ॥१४॥
ततो नीलोत्पलश्यामा चाषश्यामा ततः परम् ।
ततो रक्तोत्पलश्यामा घनश्यामा तथा परा ॥१५॥

हे पार्थिव ! पहिले रक्तश्यामा होती है, बाद में मुद्गयामा, फिर दूर्वांकुर-श्यामा और पाण्डुश्यामा । उसके बाद हरितश्यामा, फिर पीतश्यामा होती है । हे पार्थिव ! तब प्रियंगुश्यामा और कपिश्यामा । तब नीलोत्पलश्यामा, उसके बाद चाषश्यामा, तब रक्तोत्पलश्यामा, अन्त में घनश्यामा ।

द्रव्यानुरूपैर्वर्णैस्तु तासां व्यक्तिरुदाहृता ।
रङ्गव्यतिकरैः शोभामधिकृत्य महीयते ॥१६॥

अवयवों के अनुरूप वर्णों द्वारा, उनमें व्यक्ति उदाहृत कर, शोभा को अधिकाधिक बढ़ाया जाता है ।

वक्ष्यामि वर्णान्देवानां मत्वा रूप विनिश्चयम् ।
तत्र येषां न वक्ष्यामि ते कार्या गौरवर्णकाः ॥१७॥

अब मैं रूप-विनिश्चय करके देवताओं के वर्णों को बतलाता हूँ । इनमें जिनका वर्णन न करूँ वे गौर वर्ण किये जायें ।

श्यामस्तु वासुकिः कार्यो नागा गौरास्तथापरे ।
दैत्याश्च दानवाश्चैव राक्षसा गुह्यकानुगाः ॥१८॥
पिशाचा जल संकाशाः सम्मितास्तु विवर्णतः ।

वासुकी को श्याम करें तथा अन्य नागों को गौर वर्ण । दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, अनुचर व पिशाच जल के समान विवर्ण होने से वैसे ही करें ।

षट्सु द्वीपेषु पुरुषाः कर्त्तव्याः कनकप्रभाः ॥१९॥
जम्बुद्वीपस्य वर्षेषु मुक्त्वैकं भारतं नृप ।
भारतेषु तथा कार्या नानादेश भवास्तथा ॥२०॥

हे नृप ! जम्बुद्वीप के वर्षों (महाद्वीपों) में एक भारत को छोड़कर छहों द्वीपों में पुरुष कनक-प्रभ (सोने के समान कान्ति वाले) करें । भारत में अनेक प्रदेशों के लोगों के समान वैसे ही करें ।

पुलिन्दा दाक्षिणात्याश्च प्रायशोवर्णतोऽसिताः।
शकाश्च यवनाश्चैव पह्लवाबाह्लिकाश्च ये ॥२१॥
प्रायेण गौराः कर्त्तव्या उत्तरापथसंश्रयाः।
पाञ्चालाः शूरसेनाश्च तथा येवात्र मागधाः ॥२२॥

पुलिन्द और दाक्षिणात्य प्रायः श्यामवर्ण हैं। शक, यवन, पह्लव, बाह्लिक और जो उत्तरापथ के निवासी पांचाल, शूरसेनी व मागध प्रायः गौरवर्ण करना चाहिए।

अङ्गा बङ्गा कलिङ्गाश्च प्रायशोवर्णतोऽसिताः।
चन्द्रवर्णा द्विजाः कार्या राजन्याः पद्मसन्निभाः ॥२३॥

अंग, बंग और कलिंग निवासी प्रायः श्यामवर्ण हैं। ब्राह्मणों को चन्द्रवर्ण और राजाओं को पद्मवर्ण करें।[४७]

आपाण्डुरास्तथा वैश्याः श्यामाः शूद्राश्चवर्णतः।
नानावर्णाः स्मृता भूता गंधर्वाप्सरसस्तथा ॥२४॥

वैश्य पाण्डु (पीले) और शूद्र श्याम वर्ण होते हैं। भूत, गंधर्व, अप्सराएं विविध वर्णों के जानें।

राजानः पद्मवर्णाभा ये चापि सुखिनो नराः।
कुकर्माणो ग्रहग्रस्ता व्याधितास्तप आश्रिताः ॥२५॥
आयसकर्मिणश्चैव असिताः कुलजातयः।
वर्णः प्रत्यक्षदृष्टस्य कर्त्तव्यः सदृशस्तथा ॥२६॥

राजा लोग और जो सुखी लोग हैं वे पद्मवर्णाभ करें। कुकर्म करने वाले, ग्रहग्रस्त, बीमार, तप में लगे व लोहे का काम करने वालों के कुल-जातियां श्यामवर्ण। (इसी प्रकार अन्य लोगों के) वर्ण प्रत्यक्ष देखकर वैसा ही करें।

श्मश्रु विधान—

देव गन्धर्व सिद्धानां कुमाराणां च पार्थिव।
श्मश्रु तेषां न कर्त्तव्यं ये च दीक्षा समाश्रिताः ॥२७॥

हे पार्थिव! देव, गन्धर्व, सिद्धगण और कुमार तथा जो दीक्षा लिए हों उनकी दाढ़ी-मूंछ न करें।[४८]

दिव्या ये पुरुषाश्चैव तथा विद्याधराश्च ये।
शृङ्गारिणो नरेन्द्राश्च चित्र श्मश्रुधरास्तथा ॥२८॥

दिव्य पुरुष, विद्याधर, शृंगार-प्रधान लोग तथा राजा लोग रंग-बिरंगी दाढ़ी-मूंछ रखते हैं।

शुद्धं तु लिङ्गिनां कार्यं तथामात्यपुरोधसाम् ।
मध्यस्था ये च पुरुषा येच दीक्षां समाश्रिताः ॥२९॥
अनिर्णीतप्रतिज्ञानां दुःखितानां तपस्विनाम् ।
मुनीनां चिरबद्धानां दीर्घं श्मश्रु प्रकीर्तितम् ॥३०॥

ब्रह्मचारी, अमात्य और पुरोहितों को शुद्ध श्मश्रु करें। जो मध्यस्थ पुरुष हैं, जो दीक्षा लिए हैं, अपूर्ण प्रतिज्ञा वाले, दुःखी लोग, तपस्वी, मुनिजन, लम्बे समय से कैद लोगों की लम्बी दाढ़ी-मूंछ करें।

वेश रचना—

धर्मप्रवृत्तेर्वेशश्च भवेच्छुद्धो नराधिप ।
वणिजानां कञ्चुकीयानां ब्राह्मणानां तथैव च ॥३१॥

हे राजन् ! धर्म में प्रवृत्त लोगों का, वणिकों का, कंचुकी का तथा ब्राह्मणों का शुद्ध (सफेद) वेश होता है।[४६]

राज्ञानां विचित्रो वेशः स्याद्वेश्यास्त्रीणां च यादव ।
यथालिङ्गं भवेद्वेशस्तथान्येषां तु लोकतः ॥३२॥

हे यादव ! राजाओं तथा वेश्याओं का रंग-बिरंगा वेश होता है। अन्य लोगों का लोक में जैसा प्रचलित हो वैसा ही वेश होता है।

मुकुट विधि—

त्रिविधा मुकुटा ज्ञेया देवपार्थिवसंश्रयाः ।
देवानां च पार्थिवानां च कर्त्तव्यास्तु किरीटकाः ॥३३॥

देवता और मनुष्यों के आश्रय से तीन प्रकार के मुकुट जानें। देवता व राजाओं को किरीट किए जाएँ।[५०]

देवानां सप्तशिखराः पञ्चभिर्भूभृतां तथा ।
त्रिभिश्च शिखरैः कार्या महिषी युवराजयोः ॥३४॥
सेनाध्यक्षश्च कर्त्तव्यः तथैकशिखरो नृप ।

देवताओं का सात शिखर, राजाओं का पाँच तथा महारानी व युवराज का तीन शिखरों वाला किरीट करें। हे राजन् ! सेनाध्यक्ष का एक शिखर का किरीट करें।

दैत्यदानवयक्षाणां पन्नगानां सराक्षसाम् ॥३५॥
एकपट्टास्तु विस्तीर्णाः कर्त्तव्या मुकुटा शुभाः ।

दैत्य, दानव, यक्ष, पन्नग व राक्षसों का एक पट्टिका का विस्तीर्ण शुभ मुकुट करें ।

विद्याधराणां सिद्धानां वानराणां तथैव च ॥३६॥
ग्रन्थिमन्तस्तु कर्त्तव्या मुकुटास्तु प्रयोक्तृभिः ।

इसी प्रकार प्रयोक्ताओं को विद्याधर, सिद्ध व वानरों का गाँठों वाला मुकुट करना चाहिए ।[६१]

केश विधि—

देव दानव गंधर्वाः कृष्णपक्षाः प्रकीर्तिताः ॥३७॥
दैत्यदानवयक्षाश्च पिशाचा नागराक्षसाः ।
हरिश्मश्रुकचाः कार्यास्तथा पिङ्गेक्षणा नृप ॥३८॥

देव, दानव, गंधर्व काले बालों वाले बताए गये हैं । दैत्य, दानव, यक्ष, पिशाच, नाग व राक्षसों को हे राजन् ! हरी रोमावली व बाल तथा पीली आँखों वाला करें ।[६२]

कञ्चुकीयाश्च कर्त्तव्यास्तथा शुक्लशिरोरुहाः ।

कंचुकी के सिर के बाल सफेद करें ।

अमात्य कञ्चुकीयानां तथा श्रेष्ठपुरोधसाम् ॥३९॥
वेष्टनापट्टबद्धानि प्रतिशीर्षाणि कारयेत् ।

अमात्य, कंचुकी और श्रेष्ठ पुरोहितों को कपड़े की लपेट कर बाँधी गई पगड़ी करें ।

पिशाचोन्मत्तभूतानां तापसानां तथैव च ॥४०॥
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञानां लम्बकेशं भवेच्छिरः ।

पिशाच, उन्मत्त, भूत, तपस्वी, अपूर्ण प्रतिज्ञा वाले लोगों के लम्बे बालों वाले शिर होते हैं ।

बालानामपि कर्त्तव्यं शिखण्डक विभूषणम् ॥४१॥

बालकों के सिर चोटियों से सजाना चाहिए ।

विदूषकस्य खलतिस्स्यात्काकपदमेव वा ।
शेषाणामर्थयोगेन शेष जाति समाश्रयम् ॥४२॥

विदूषक गंजा या कनपटियों पर बाल वाला होता है। बाकी लोगों का केश-विधान उनकी जाति व कर्म के अनुसार अर्थ-योग से करें।

संजीव विधि—

सञ्जीवमिति यत्प्रोक्तं तस्य वक्ष्यामि लक्षणम्।
प्रवेशस्तु तिरश्चां वै सञ्जीव इति संज्ञितः ॥४४॥

(पहले) जो संजीव कहा है उसका लक्षण कहता हूँ। छुपा कर या ढांक कर प्रवेश करने को संजीव कहते हैं।[६३]

तेषां पुस्तेन कर्त्तव्या प्रकृतिः पुरुषान्तरा।
तथैवायुधहस्तानां कर्त्तव्या हेतयः शुभाः ॥४५॥

उन्हें स्त्री-पुरुष के अन्तर से गर्त्त या रेखांकन से करें। इसी प्रकार शुभ आयुध हस्तों से करें।[६४]

एवं लोकोपचारेण स्वबुद्ध्या विभवेन च।
नाट्योपकरणानीह यथावत्परिकल्पयेत् ॥४६॥

इसी प्रकार लोकोपचार से, अपनी बुद्धि और वैभव द्वारा इन नाट्य उपकरणों का यथावत् परिकल्पन करें।

हेति प्रमोक्षो न तु रङ्गमध्ये कार्यो
भवेत्पार्थिववंश मुख्य।
आहार्यमेतत्कथितं समासाद्
वक्ष्याम्यतश्चाङ्गिकमेव तुभ्यम् ॥४७॥

हे पार्थिव वंश मुख्य! रंग मध्य मे हेतिप्रमोक्ष कार्य (शस्त्र-चालन) नहीं होता। यह संक्षेप में आहार्य अभिनय कहा, अब तुझे (पुनः) आंगिक अभिनय बतलाता हूँ॥

॥ इति श्री विष्णु धर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्रसंवादे आहार्याभिनयो नाम ॥२७॥

नवम् अध्याय

(अष्टविंशोऽध्यायः)

सामान्याभिनय

मार्कण्डेयः —

अतः परं प्रवक्ष्यामि सामान्याभिनयं तव ।
तस्मिन्कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यं तत्र प्रतिष्ठितम् ॥ १॥

इसके आगे तुम्हें सामान्याभिनय बताता हूँ। इसमें विशेष प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि नाट्य इसी में प्रतिष्ठित है।[१५]

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गंधस्तथैव च ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांस्तु भावेनाभिनयेद् बुधः ॥ २ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और इसी प्रकार इन्द्रियों व इन्द्रियों के अर्थों का बुद्धिमान लोग भाव से अभिनय करें।

कृत्वा साचीकृतां दृष्टिं शिरः किञ्चिन्नतं भवेत् ।
तर्जनीं कर्णदेशे तु शब्दं त्वभिनयेद् बुधः ॥ ३ ॥

साची दृष्टि और नत सिर करके तर्जनी कान के पास ले जाकर बुधजन शब्द का अभिनय करें।

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वोत्फुल्लां तु नासिकाम् ।
एक श्वासो भवेच्चापि गन्धमेवं विनिर्दिशेत् ॥ ४ ॥

नेत्र थोड़े कुंचित और नाक उत्फुल्ल कर एक श्वास के द्वारा गंध को निर्देशित करें।

इन्द्रियार्थास्तु पञ्चैते त्रिविधाः परिकीर्तिताः ।
इष्टास्तथा ह्यनिष्टाश्च मध्यस्था नृपसत्तम ॥ ५ ॥

हे नृप सत्तम ! इन्द्रियों के ये पाँच विषय तीन प्रकार से बताए गए हैं— इष्ट, अनिष्ट और मध्यस्थ।

गात्र प्रह्लादनेनेन तथा पुलकितेन च ।
नितान्तास्रक्रियाभिश्च सर्वमिष्टं निरूपयेत् ॥ ६ ॥

शरीर के पुलकित व प्रसन्न होने तथा निरन्तर सिर हिलाने से सभी प्रकार के इष्ट को प्रदर्शित करें।

परावृत्तेन शिरसा तथा चानेन चक्षुषा।
नेत्रनासाञ्चितत्वेन ह्यनिष्टमिति निर्दिशेत् ॥७॥

परावृत्त शिर और ऐसी ही आँखों और अंचित नेत्र-नासिका द्वारा अनिष्ट प्रदर्शित करें।

मध्यस्थेनैव भावेन मध्यस्थकरणं भवेत्।
आत्मानुभावी योऽर्थस्स्यादात्मस्थ इति संज्ञितः ॥८॥
परार्थवर्णनं यच्च परस्थेति च कीर्तितम्।

मध्यस्थता के भाव से ही मध्यस्थकरण होता है। आत्मानुभावी जो अर्थ होता है वह आत्मस्थ कहा गया है और जो परार्थ वर्णन है उसे परस्थ कहते हैं।

उत्तानौ तु करौ कृत्वा स्वस्तिकौ पार्श्वसंस्थितौ ॥९॥
उद्वाहितेन शिरसा तथा चोर्ध्वं निरीक्षणात्।
प्रभातं गगनं रात्रिं प्रदोषं दिवसं तथा ॥१०॥
ऋतून्घनान्धकारांश्च विस्तीर्णांश्च जलाशयान्।
दिशो ग्रहान्सनक्षत्रान्यच्चान्यत्खगतं नृप ॥११॥
तस्य त्वभिनयः कार्यो नानादृष्टिसमन्वितः।

दोनों ऊपर उठे हुए हाथों को पार्श्व में स्वस्तिकाकार रखकर तथा उद्वाहित शिर से ऊपर देखने के द्वारा प्रभात, गगन, रात्रि, संध्या, दिन, ऋतुएँ, घना अंधकार, विस्तीर्ण जलाशय, दिशाएँ, ग्रह-नक्षत्र तथा अन्य जो भी आकाश में स्थित है उन सबका अभिनय विभिन्न दृष्टियों से समन्वित कर करें।

एभिरेव करैर्भूयः स्तनैश्च शिरसा तथा ॥१२॥
अधोनिरीक्षितेनाथ भूमिष्ठान्संप्रयोजयेत्।

फिर इन्हीं हाथों, स्तनों व शिर से नीचे देखने के द्वारा पृथ्वी पर स्थित वस्तुयें दिखायें।

चन्द्रं ज्योत्स्नां सुखं वायुं स्पर्शेनाभिनयेद्बुधः ॥१३॥

चन्द्र, ज्योत्स्ना व सुखद वायु का बुद्धिमान लोग स्पर्श द्वारा अभिनय करें।

वक्त्रावगुण्ठनात्सूर्यं रजोधूमानलांस्तथा।
भूमितापमथौष्ण्यं च कुर्याच्छायाभिलाषतः ॥१४॥

वक्र अवगुण्ठन से सूर्य, धूलि, धुआँ, आग, भूमि-ताप (धूप) और गर्मी को छाया की इच्छा करते दिखायें।

ऊर्ध्वकेकर दृष्ट्या तु मध्याह्नस्थं दिवाकरम्।
उदयास्तगतं चैव विस्मयार्थे प्रदर्शयेत् ॥१५॥

ऊर्ध्व हाथ व दृष्टि से दोपहर का सूर्य या उदय व अस्त होता सूर्य विस्मय के अर्थ में प्रदर्शित करें।

चन्द्रं विस्मितया दृष्ट्या तथा ताराश्च दर्शयेत्।
सुखे स्पृश्यानि गात्राणि रोमाञ्चं न तु दर्शयेत् ॥१६॥

विस्मित दृष्टि से चन्द्र तथा तारागण दिखायें। किन्तु सुख में अंगों को छूकर रोमांच न दिखायें।

दुःखानि च तथोद्वेगैर्मुखस्य तु विकूणनैः।
गम्भीरोदात्तसंयुक्तानर्थान्सौष्ठवसंयुतान् ॥१७॥
(साटोपैश्च सगर्वैश्च गात्रैः सौष्ठवसंयुतैः।)

उद्वेगों द्वारा और मुख के तिरछेपन से दुःखों को, गम्भीर, उदात्त अर्थों को अहंकार व गर्व सहित सौष्ठव युक्त अंगों से प्रदर्शित करें।

यज्ञोपवीतदेशस्थमरालं हस्तमादिशेत्।
हारावहारयोगेषु स्रग्दामस्य च दर्शने ॥१८॥

यज्ञोपवीत के स्थान पर, हार-अवहार के योग में और माला देखने में अराल हस्त आदेशित करें।

भ्रमरेण प्रदेशिन्या दृष्टेः परिगमेन च।
अलपद्मांकपीडाया स्सर्वार्थग्रहणं भवेत् ॥१९॥

कनिष्ठिका के घुमाने, दृष्टि के परिगमन और अलपद्म हस्त के अंक में दबाने से सर्वार्थ ग्रहण होता है।

श्रव्यं श्रवणयोगेन दृश्यं दृष्टि विलोकनैः।
आत्मसंस्थं परस्थं वा मध्यस्थं वा विनिर्दिशेत् ॥२०॥

आत्मस्थ, परस्थ या मध्यस्थ श्रव्य को श्रवण (कान) के योग से तथा दृश्य को आँखों से देखने के द्वारा निर्देशित करें।

विद्युदुल्का घनरवो विस्फुल्लिङ्गार्चिषस्तथा।
त्रस्ताङ्गाक्षिनिमेषैश्च तेऽभिनेया प्रयोक्तृभिः ॥२१॥

विद्युत, उल्का, घन-रव, विस्फुलिंग तथा आर्चिषे (लपट) का अभिनय प्रयोक्तागण त्रस्त अंग व आँख झपकाने से करें।

मुखावगुण्ठनं कार्यं भ्रमरादिनिवारणे।
कृत्वा स्वस्तिक संस्थानौ पद्मकोशावधोमुखौ ॥२२॥
सिंहर्क्षवानरादीनां कर्त्तव्यं तु निरूपणम्।
स्वस्तिकौ त्रिपताकौ तु गुरूणां पादवन्दने ॥२३॥

भ्रमर आदि के निवारण में मुख घूंघट से छुपायें। दोनों अधोमुख पद्म-कोश हस्तों को स्वस्तिकाकार स्थित कर सिंह, रीछ, वानर आदि का निरूपण करें। स्वस्तिक त्रिपताक गुरुजनों की पाद-वन्दना में करें।

खटका स्वस्तिकौचापि प्रतोदग्रहणे भवेत्।
एकाद्यानां दशान्तानां संख्यात्वङ्गुलिभिर्भवेत् ॥२४॥

लगाम पकड़ने में खटका-स्वस्तिक होता है। एक से दस तक की संख्या अंगुलियों से होती है।

दशाख्या च शताख्या च स्थानसंख्या ततः परम्।
पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यां वाचा चाभिनयो भवेत् ॥२५॥

दस और सौ की संख्या या स्थान दोनों पताका हस्तों व वाचिक अभिनय से होता है।

छत्रध्वज पताकाश्च विज्ञेया दण्डधारणात्।
नाना प्रहरणं चैव विज्ञेयमिह धारणैः ॥२६॥

दण्ड धारण करने से छत्र, ध्वज व पताका जानें। इसी से विविध अस्त्र-शस्त्र भी जानें।

एकचित्तो ह्यधोदृष्टिः शिरः किञ्चिन्नतं भवेत्।
सव्य हस्तश्च संदंशे स्मिते ध्याने वितर्किते ॥२७॥

थोड़े नत शिर और अधो दृष्टि से एकचित्तता होती है। स्मित, ध्यान व विचार में दाहिने हाथ से संदंश जानें।

उद्वाहितं शिरः कृत्वा हंसपक्षं प्रदक्षिणम्।
अपत्यरूपणे कार्यमुच्छ्रायं च प्रयोक्तृभिः ॥२८॥

उद्वाहित शिर और दाहिने हाथ से हंसपक्ष बनाकर प्रयोक्तागण जमुहाई व सन्तान का निरूपण करें।

अरालं च शिरः स्थाने समुद्राद्यं च वामतः ।
गते निवृत्ते ध्वस्ते च श्रान्तवाक्ये नियोजयेत् ।।२९।।

सिर पर बाईं ओर अराल बनाकर गत, निवृत्त, ध्वस्त, श्रान्त (थका) तथा वाक्य में उसे नियोजित करें ।

जितेन्द्रियतया युक्तं प्रसन्नवदनं तथा ।
विचित्रकुसुमालोकां शरदं तु निरूपयेत् ।।३०।।

जितेन्द्रियता से युक्त, प्रसन्न वदन तथा विचित्र कुसुमों से आलोकित शरद का निरूपण करें ।

गात्रस्य कम्पनात्तज्ज्ञैस्तथा चाग्न्यभिलाषतः ।
हेमन्तस्त्वभिधेयस्सयात्पुरुषैर्मध्यमाधमैः ।।३१।।

जानकार मध्यम व अधम श्रेणी के पुरुषों द्वारा शरीर के कम्पन और अग्नि की अभिलाषा करते हुए हेमन्त दिखाया जाता है ।

शिरोदन्तौष्ठकम्पेन गात्रसङ्कोचकेन च ।
कूजितैश्च ससीत्कारैः शीतस्याभिनयोऽधमे ।।३२।।

सिर, दांत व ओंठ के कम्पन तथा अंगों को सिकोड़कर सीत्कार करते हुए अधम पात्र शीत का अभिनय करें ।

अवस्थान्तरसम्प्राप्तैर्मध्यमाधिकयोस्तथा ।
शीतस्याभिनयो नैव शिशिराभिनयो भवेत् ।।३३।।

मध्यम और उत्तम पात्रों में अवस्थान्तर प्राप्ति से ही शीत के अभिनय द्वारा ही शिशिर का अभिनय होता है ।

प्रसाद जननारम्भैरुपभोगैः ससंभ्रमैः ।
वसन्तस्त्वभिनेतव्योनानापुष्पप्रदर्शनात् ।।३४।।

संभ्रम सहित प्रसन्नता जनक उपभोगों के प्रारम्भ तथा विविध पुष्पों के प्रदर्शन द्वारा वसन्त का अभिनय करें ।।

स्वेदापमार्जनाच्चापि भूमिपातोपजीवनैः ।
उष्णस्य वायोः स्पर्शश्च ग्रीष्मस्याभिनयो भवेत् ।।३५।।

पसीना पोंछने और भूमि पर लेटकर साँस लेने के द्वारा गर्म वायु का स्पर्श व ग्रीष्म का अभिनय होता है ।

गम्भीरनाद श्रवणात्प्रावृष्यभिनयो भवेत् ।
वचसाभिनयः कार्यो ऋतूनां सुखदुःखयोः ॥३६॥

गम्भीरनाद सुनने के द्वारा प्रावृट् (वर्षा) का अभिनय होता है। ऋतुओं के सुख-दुःख वाचिक अभिनय से व्यक्त करें।

स्वभावाभिनये स्थानं पुंभिः कार्यं तु वैष्णवम् ।
आयतं चावहित्थं च स्त्रीभिः कार्यं स्वभावतः ॥३७॥

स्वाभाविक अभिनय में पुरुष वैष्णव स्थान करें। स्त्रियाँ स्वभाव से आयत या अवहित्थ स्थान करें।

धैर्यशीलाङ्गसम्पन्नं पुरुषाणां विचेष्टितम् ।
मृदुशीलाङ्गहारैस्तु स्त्रीणां कार्यं विचेष्टितम् ॥३८॥

पुरुषों की विचेष्टा धैर्यशील अंगों से तथा स्त्रियों का विचेष्टित मृदुशील अंगहारों से सम्पन्न करें।

आलिङ्गनं तु कर्त्तव्यं स्मित रोमाञ्च संयुतम् ।
रोमाञ्चेन तु हर्षः स्यात्क्रोधमुद्वृत्तचक्षुषा ॥३९॥

आलिंगन को स्मित व रोमांच से युक्त करें। रोमांच से हर्ष होता है, उद्वृत्त नेत्रों से क्रोध (जानें)।

ईर्ष्या क्रोधस्तु कर्त्तव्यो माल्याभरणवर्जितम् ।
शिरसः कम्पनाच्चैव मर्मभङ्गैस्तथैव च ॥४०॥

ईर्ष्या तथा क्रोध को बिना माला-आभूषणों के, सिर कंपा कर और मर्म-भेदी वचनों से प्रदर्शित करें।

अधोमुखः सनिःश्वासो दुःखं संदर्शयेन्नरः ।
भूमिहस्ताभिघातेन स्त्रीणां स्याद्रुदितेन तत् ॥४१॥

निःश्वास सहित अधोमुख द्वारा पुरुष दुःख दिखाएँ। भूमि पर हाथ पटकने व रोने के द्वारा स्त्रियों का दुःख होता है।

आनन्दार्त्तिसमुद्भूतं रुदितं द्विविधं स्मृतम् ।
हृष्टेन चाप्यहृष्टेन तन्मुखेन निरूपयेत् ॥४२॥

रुदन को आनन्द व आर्तता इन दो प्रकार से उत्पन्न कहा है। क्रमशः प्रसन्न व दुःखी मुख से उनका निरूपण करें।

सम्भ्रमावेगचेष्टाभि पुरुषाणां भयं भवेत् ।
त्रातुरन्वेषणादेव उच्चैराक्रन्दितेन च ॥४३॥
नरालिङ्गतश्चैव भयं कार्यं भवेत्स्त्रियः ।

सम्भ्रम और आवेग युक्त चेष्टाओं द्वारा पुरुषों का भय व्यक्त होता है। रक्षक के अन्वेषण, जोर-जोर से आक्रन्दन तथा पुरुषों से लिपट जाने के द्वारा स्त्रियों का भय प्रदर्शित होता है।

त्रिपताकाङ्गुलिभ्यां तु चलिताभ्यां प्रयोजयेत् ॥४४॥
शुकश्च सारिका चैव सूक्ष्मा ये चैव पक्षिणा ।

शुक (तोता), सारिका व अन्य जो छोटे पक्षी हैं उन्हें त्रिपताक हस्त में चलती हुई अंगुलियों से दिखाएँ।

शिखि सारस हंसाद्यास्स्थूला ये च स्वभावतः ॥४५॥
पक्षाङ्गहारैर्द्विविधै 'स्तेषामभिनयो भवेत् ।

मोर, सारस, हंस आदि जो स्वभाव से ही स्थूल हैं उनका दोनों पंखों को दिखाने वाले अंगहारों से अभिनय होता है।

भूताः पिशाचा यक्षाश्च दानवा राक्षसास्तथा ॥४६॥
अङ्गहारै विनिर्देश्या प्रत्यक्षा न भवन्ति ये ।
प्रत्यक्षा अभिनेयाः स्युस्तथोद्वेगैस्सविस्मयैः ॥४७॥

भूत, पिशाच, यक्ष, दानव और राक्षस आदि, जो प्रत्यक्ष नहीं होते, उन्हें अंगहारों से निर्देशित करें, किन्तु जो प्रत्यक्ष हों उनका उद्वेग व विस्मय सहित अभिनय करें।

देवान्प्रणामकरणैः प्रत्यक्षे तु नराधिप ।
परोक्षे विविधैश्चिह्नैस्तथानुकरणैः शुभैः ॥४८॥

हे नराधिप ! देवताओं को प्रत्यक्ष होने पर प्रणाम करने के द्वारा और परोक्ष होने पर उनके विभिन्न शुभ चिह्नों के अनुकरण द्वारा व्यक्त करना चाहिए।

सव्योत्थितेन हस्तेन त्वरालेन शिरः स्पृशेत् ।
नरेऽभिवादनं ह्येतत्कपोतेन तथा स्त्रियाः ॥४९॥

पुरुष दाहिने अराल हस्त को उठाकर सिर के स्पर्श द्वारा व स्त्रियाँ कपोत हस्त से अभिवादन करें।

महाजनं सखीवर्गं विटधूर्तजनं तथा ।
परिमण्डलसंज्ञेन हस्तेनाभिनयेद् बुधः ॥५०॥

बुद्धिमान लोग महाजन, सखीवर्ग, विट तथा धूर्तजनों का अभिनय परि-मण्डल नामक हस्तों से करें ।

पर्वतान्प्रांशुयोगेन वृक्षांश्चैव समुच्छ्रितान् ।
प्रसारिताभ्यां बाहुभ्यां चोत्क्षिप्ताभ्यां प्रदर्शयेत् ॥५१॥

ऊपर फैली हुई बाहुओं के द्वारा ऊँचे वृक्षों को व इसी प्रकार ऊँचाई द्वारा पर्वतों को प्रदर्शित करें ।

समूहं सुमहत्सेनां बहुविस्तीर्णमेव च ।
पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यां चोत्क्षिप्ताभ्यां प्रदर्शयेत् ॥५२॥

समूह, बड़ी सेना और बहुत विस्तीर्ण को उत्क्षिप्त पताक हस्तों से प्रदर्शित करें ।

शौर्यं च धैर्यं दर्पं च गर्वमौदार्यमुच्छ्रयम् ।
ललाटस्थान संस्थेन त्वरालेन प्रदर्शयेत् ॥५३॥

ललाट स्थान पर स्थित अराल हस्त द्वारा शौर्य, धैर्य, दर्प, गर्व, औदार्य व उत्थान प्रदर्शित करें ।

वक्षोदेशपदाविद्धौ करौ तु मृगशीर्षकौ ।
विस्तीर्ण प्रद्रुतोत्क्षेपौ योज्यौ यत्स्यादुपावृत्तम् ॥५४॥

जब उपावृत्त (घूमना) हो तब वक्ष-प्रदेश पर आविद्ध, विस्तीर्ण और तेजी से उत्क्षिप्त दोनों मृगशीर्ष हस्तों की योजना करें ।

अधोमुखोत्तानतलं हस्तं किञ्चित्प्रसारितम् ।
कृत्वा चाभिनयेद् ध्वान्तं बिलग्राहं गृहं गुहाम् ॥५५॥

अधोमुख व उत्तान तल हस्त को थोड़ा प्रसारित करके बिल का मुहाना, उजाड़ घर व गुफा दिखाएँ ।

कामार्तान्ज्वरितांश्चैव शापोपहत चेतसः ।
तेषामभिनयः कार्य उच्छ्वासैः कम्पनैस्तथा ॥५६॥

कामार्त, ज्वर-पीड़ित तथा शाप से बेसुध का अभिनय उच्छ्वास और कम्पन द्वारा करें ।

प्रत्यक्षोऽभिनयः कार्यो दोलायाः परिदोलने ।
आकाशवचनानीह वक्ष्याम्यात्मगतानि तु ॥५७॥

झूले पर झूलने का प्रत्यक्ष अभिनय करें। अब आकाश भाषित व स्वगत वचनों को बताता हूँ।

अपवारितकं चैव जनान्तिक मथापि च ।
परिसंभाषणं यत्स्यात्तदाकाशवचः स्मृतम् ॥५८॥

अपवारित और जनान्तिक से पृथक जो वचन होता है उसे आकाश-बचन जानें।

अन्यैरश्रवणीयं तु जनान्तिक मिहोच्यते ।
अपवारितकं कर्णो पुनरुक्तं प्रचक्षते ॥५९॥

दूसरों द्वारा अश्रवणीय वचन जनान्तिक कहा जाता है। कान में कहना अपवारित बताया गया है।

हस्तमन्तरितं कृत्वा त्रिपताकं प्रयोक्तृभिः ।
जनान्तिकं प्रयोक्तव्यमपवारितकं तथा ॥६०॥

प्रयोक्ताओं द्वारा त्रिपताक हस्त को अन्तरित कर जनान्तिक व अपवारित का प्रयोग किया जाए।

स्वप्नायिते चाभिनयं वाचा गद्गदया भवेत् ।
वृद्धानां योजयेत्पाठ्यं गद्गदस्खलिताक्षरम् ॥६१॥

स्वप्नायित के अभिनय में वाणी गद्गद् होती है। वृद्धों के संवाद में गद्-गद् स्खलित अक्षरों की योजना करें।

आसमाप्ताक्षरं चैव बालानां तु कलस्वनम् ।
दीर्घोच्छ्वासयुतं ग्लानं व्याधितानां तु योजयेत् ॥६२॥

बालकों का आसमाप्ताक्षर कलस्वन (लगातार शोर) और बीमार व्यक्तियों के अभिनय में दीर्घ उच्छ्वास युक्त ग्लान वचनों की योजना करें।

उच्छ्वासेन तु दीर्घेण मृत्युकालं तु नाटयेत् ।
गात्र निस्पन्द भावेन मृतस्याभिनयो भवेत् ॥६३॥

दीर्घ उच्छ्वास द्वारा मृत्युकाल का अभिनय करें। निस्पन्द शरीर द्वारा मृत का अभिनय होता है।

सात्त्विकाभिनयं वक्ष्ये रसभावेषु पार्थिव ।

हे पार्थिव ! अब मैं रस-भावों में सात्त्विक अभिनय बतलाऊँगा ।

ऐतावदेवाभिनये तु तुभ्यं
शक्यं मया पार्थिवमुख्य वक्तुम् ।
नाट्यं हि विश्वस्य यतोनुकारं
कृत्स्नं ततो वक्तुमशक्यमीशम् ॥६४॥

हे पार्थिव मुख्य ! ये इतने ही अभिनय मेरे द्वारा तुम्हें कहे जा सके हैं । चूँकि नाट्य तो विश्व का अनुकरण है अतः इसे सम्पूर्णतः तो ईश्वर भी नहीं कह सकता ।

॥ इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्र संवादे सामान्याभिनयो नाम ॥२८॥

दशम अध्याय

(एकोनत्रिंशोऽध्यायः)

गतियों के लक्षण

मार्कंण्डेयः —

अतः परं प्रवक्ष्यामि गतीनां लक्षणं तव।
स्वभावेनोत्तमगतौ कार्यं जानु कटीसमम् ॥१॥
युद्धचारी प्रचारेषु जानुस्तनसमं न्यसेत्।

इसके आगे मैं तुम्हें गतियों के लक्षण बतलाता हूँ। स्वभाव से उत्तम गतियों में जानु (घुटना) व कटि सम करें। युद्धचारी के प्रचार में जानु व स्तन सम रखें।

स्थिरा गति—

ज्वरार्ते च क्षुधार्ते च तपः श्रान्ते रुजान्विते ॥२॥
विस्मिते चावहित्थे च तथौत्सुक्यसमन्विते।
शृङ्गारे चैव शोके च स्वच्छन्दगमने तथा ॥३॥
एतेष्वेव तु सर्वत्र स्थिरा कार्या गतिर्बुधैः।

ज्वरार्त, क्षुधार्त्त, तपःश्रान्त, पीड़ित, विस्मित, अवहित्थ, औत्सुक्य समन्वित, शृंगार, शोक तथा स्वच्छन्दगमन में सर्वत्र बुद्धिमानों द्वारा स्थिरा गति की जाए।

शीघ्रा गति—

अस्वस्थे कम्पिते चैव भये वित्रासिते तथा ॥४॥
आवेगे चैव हर्षे च कार्ये चातित्वरान्विते।
अनिष्टश्रवणे चैव क्षेपे चाद्भुतदर्शने ॥५॥
अपि चात्यधिके कार्ये तथा चैवारिमार्गणे।
अपराद्धानुसरणे श्वापदानुगतौ तथा ॥६॥
एवं विधेषु कार्येषु गतिं शीघ्रां प्रयोजयेत्।

अस्वस्थता, कंप, भय, त्रास, आवेग, हर्ष, बहुत शीघ्रता वाले कार्य, अनिष्ट श्रवण, फेंकना, अद्भुत-दर्शन, अत्यधिक कार्य, शत्रु की खोज, अपराधी

का पीछा, चौपायों का पीछा करना—इस प्रकार के कार्यों में शीघ्रा गति का प्रयोग करना चाहिए।

शृंगारिणी गति—

गतिः शृङ्गारिणी कार्या स्वस्थकामितसम्भवे ॥७॥
दूती दर्शितमार्गस्तु ह्यवेशपरिक्रमे ।
ससौष्ठव समायुक्तैर्लयताल वशानुगैः ॥८॥
पादयोरनुगौ चापि हस्तौ कार्यौ प्रयोक्तृभिः ।

प्रकट अभिसार में दूती द्वारा दिखाए गये मार्ग से नवीन वेश धारण करके सौष्ठव से समायुक्त लय-ताल के अनुरूप शृंगारिणी गति करे। प्रयोक्ताओं के द्वारा पैरों के अनुसार ही हाथ भी किए जाएँ।

प्रच्छन्न कामिते गच्छेन्न चात्यर्थं विभूषितः ॥९॥
कृष्णवासाः पदैर्मन्दैः शब्दाशङ्की मुहुर्मुहुः ।
वेपमानशरीरश्च शङ्कितः प्रस्खलन्मुहुः ॥१०॥

गुप्त अभिसार में अधिक सजधज कर न जाएँ। काले वस्त्र, धीमे पैरों से, बार-बार आवाज से आशंकित होते हुए, काँपता शरीर, शंकित व बार-बार फिसलती हुई गति रखें।

रौद्रा गति—

अङ्गस्वभावनेपथ्यो रौद्रस्तु त्रिविधो मतः ।

अंग, स्वभाव, व नेपथ्य भेद से रौद्र तीन प्रकार का माना है।

रुधिरक्लान्तदेहस्तु पद्मान्त्राङ्गधरस्तथा ॥११॥
बह्वायुधधरो रौद्रो नेपथ्येन प्रकीर्तितः ।

रुधिर क्लान्त देह, अंगों पर घावों के चिन्ह, बहुत से आयुध धारण किए नेपथ्य रौद्र कहा गया है।

बहुबाहुमुखो रौद्रो नानाप्रहरणाकुलः ॥१२॥
स्थूलाङ्गो विकृतप्रांशुरङ्गरौद्रः प्रकीर्तितः ।

बहुत सी भुजाओं और मुखवाला, भयानक, बहुत से घावों से आकुल, स्थूल शरीर, विकृत व लम्बा अंग रौद्र बताया गया है।

रूक्षो बीभत्सकथनो निर्घृणस्तु स्वभावतः ॥१३॥
विविधस्यापि रौद्रस्य चतुस्तालान्तरा गतिः ।

रूखा, बीभत्स-कथन, निर्घृण (घिनौना) स्वभाव रौद्र है। इन सभी प्रकार के रौद्रों की चतुस्तालान्तरा (चार ताल के अन्तर वाली) गति होती है।

बीभत्सिका गति—

अहृद्या तु मही यत्र श्मशान रणसंकुला ।।१४।।
आसन्ना च विकृष्टा च तत्र वीभत्सिका गतिः ।

जहाँ अप्रिय श्मशान, रणसंकुल, आसन्न तथा विकृष्ट (ऊँची-नीची) भूमि हो वहाँ बीभत्सिका गति जानें।

वीरा गति—

गति र्वीरे च कर्त्तव्या पादविक्षिप्त संयुता ।।१५।।

वीर रस में विक्षिप्त पाद युक्त गति रखें।

अद्भुता गति—

विस्मये चैव हर्षे च विक्षिप्तपदविक्रमः ।

विस्मय और हर्ष में विक्षिप्त पाद चालन जानें।

करुणा गति—

गतिः स्थिरपदा प्रोक्ता तथैव करुणे रसे ।।१६।।
न तत्र सौष्ठवं कार्यं न प्रमाणं तथाविधम् ।

इसी प्रकार करुण रस में स्थिरपदा गति कही है। इसमें न सौष्ठव करना चाहिए न वैसा प्रमाण ही।

विघूर्णितशरीरा च स्तब्धा च शिथिला गतिः ।।१७।।
गाढ़प्रहारिते कार्या गतिः पिण्डितविग्रहा ।
द्रुता भयानके कार्या स्तब्धा कार्यवशादथ ।।१८।।

लड़खड़ाते शरीर वाली स्तब्धा और शिथिला गति होती है। गहरी चोट लगने पर शरीर को सिमटे हुए गति करें। भयानक रस में द्रुता और काम पड़ने पर स्तब्धा गति रखें।

सत्त्वे तु विकृते दृष्टे गतिर्विस्फारितेक्षणा ।
तापसानां भवेन्मन्दा युगमात्रेक्षणा गतिः ।।१९।।

विकारी पुरुषों की विस्फारित नेत्रों से देखती हुई गति होती है, जबकि तपस्वियों की क्षणमात्र निहारती मन्दा गति होती है।

हस्तसंस्पर्शनान्मन्दा त्वन्धकारे गतिर्भवेत् ।
रथस्थस्यापि कर्त्तव्या गतिर्मन्दपदैरथ ॥२०॥

अन्धकार में हाथ से स्पर्श करती मन्दा गति होती है। रथ में स्थित की मन्द पदों वाली गति करें।

समपादं बुधः स्थानं कृत्वा रथगतिं व्रजेत् ।
धनुर्ग्रहीत्वा हस्तेन तथा चैकेन कूबरम् ॥२१॥

बुद्धिमान लोग समपाद स्थान करके एक हाथ से धनुष व अन्य हाथ से कूबर पकड़कर रथगति में घूमें।

सूतश्चास्य भवेदेव प्रतोदग्रहणाकृतिः ।
विमानस्थस्य कर्त्तव्या गतिर्या स्यन्दिनी भवेत् ॥२२॥

इसी पूर्वोक्त में लगाम पकड़े हुए रहने से सारथी होता है। विमान में स्थित की भी वही गति करें जो रथ की है।

आरोह श्चावरोहश्च ऊर्ध्वाधोवीक्षणैर्गतैः ।
मण्डलावर्तनैः कार्यं चाकाशगमनं तथा ॥२३॥

ऊपर और नीचे देखने की गति द्वारा आरोह व अवरोह तथा गोलाई से घूमने के द्वारा आकाशगमन करें।

ऋज्वागतोन्नतैः पादैर्भ्रंशमानस्तु खाद् भवेत् ।
उच्छ्रितारोहणं कार्यमपक्रान्त पदैरथ ॥२६॥

सीधे ऊपर उठे पैरों से गिरने (कूदने) पर शिकार होता है। अपक्रान्त पदों द्वारा ऊँचाई पर आरोहण करें।

अङ्कुशग्रहणान्नागं खलीनग्रहणाद्धयम् ।
प्रग्रहग्रहणादेव अन्येषां कारयेद्गतिम् ॥२७॥

अंकुश पकड़ने से हाथी, लगाम का दहाना पकड़ने से घोड़ा तथा इसी प्रकार प्रग्रह-ग्रहण से ही अन्य की गति करें।

अश्वयाने गतिः कार्या वैशाखस्थानकेन हि ।
पन्नगानां गतिः कार्या पादैः स्वस्तिकसंयुतैः ॥२८॥

वैशाख स्थान से ही अश्वयान (रथ) गति करें। स्वस्तिक संयुत पैरों से पन्नगों की गति करें।

विटस्यापि तु कर्त्तव्या गतिर्ललितविक्रमा।
कञ्चुकीयस्य कर्त्तव्या कम्पिता स्खलिता गतिः ॥२९॥

विट की ललित विक्रम गति करें। कंचुकी की कम्पिता स्खलिता गति करें।

विष्टम्भनगतिप्राणा कृशस्यापि गतिर्भवेत्।
व्याधिग्रस्तस्य च तथा तपःश्रान्तस्य चैव हि ॥३०॥

कृश, व्याधिग्रस्त और तपः श्रान्त की गति प्राणों को अवरुद्ध करने वाली होती है।

दीर्घध्वनिगतस्यापि शनैर्मन्दपरिक्रमा।
मत्तस्य तु गतिः कार्या स्खलिता पार्श्वयोर्द्वयोः ॥३१॥

लम्बी आवाज कर चलते हुए, धीरे-धीरे धीमे से गोल घूमते हुए, दोनों पार्श्व से स्खलित मत्त की गति करें।

उन्मत्तस्यापि कर्त्तव्या गतिस्त्वनियतक्रमा।
असम्बद्धप्रलापी स्यान्मलिनो लोमशस्तथा ॥३२॥

असम्बद्ध बकवास करने वाला, मलिन, बढ़े हुए केश वाले उन्मत्त की भी अनियतक्रमा गति करें।

विकलानां गतिः कार्या यथाकार्यानुरूपतः।
स्थूलदेहस्य कर्त्तव्या गतिर्देहानुकर्षिणी ॥३३॥

विकल लोगों की गति कार्य के अनुरूप करें। मोटी देह वालों की शरीर को खैंचती सी गति रखें।

विदूषकस्य कर्त्तव्या गतिर्हास्यप्रदा तथा।
स्वभावजातं विन्यस्य कुटिलं वामके करे ॥३४॥

बाँए हाथ में स्वभाव से ही टेढ़ी लकड़ी (कुटिलक) लिए विदूषक की हास्यप्रदा गति करें।

गतौ नमेत चेटानां दृष्टिश्चार्थविचारिणी।
नानादेशसमुत्थानां पुरुषाणां स्वभावतः ॥३५॥

चेटजनों तथा विभिन्न प्रदेशों में उत्पन्न (आए हुए) पुरुषों की गतियाँ झुकी हुई और दृष्टि अर्थ-विचारिणी करें।

श्वापदानां पशूनां च गतिः कार्या नराधिप।
शेषाणामर्थयोगेन स्थानकानि प्रयोजयेत् ॥३६॥

जंगली जानवरों व पशुओं की गति उनके स्वभाव के अनुसार करें। हे नराधिप ! शेष की भी अर्थयोग से स्थानकों का प्रयोग करते हुए गति रखें।

धैर्योपपन्ना गतिरुत्तमानां
मध्या गतिर्मध्यमसम्मितानाम्।
द्रुता गतिश्च प्रचुराधमानां
लयत्रयं सत्त्ववशेन योज्यम् ॥३७॥

उत्तम जनों की धैर्य सम्पन्न गति, मध्य स्तर के लोगों की मध्या गति व प्रचुर अधम लोगों की द्रुता गति—इस प्रकार सत्त्व के अनुरूप तीनों लयों की योजना करें।

रङ्गे विकृता तु नृपप्रधान
गतागतैः पादगति प्रचारैः।
कार्या वशादेव गृहस्य नित्यं
समीक्ष्य रङ्गं तु यथानुरूपम् ॥३८॥

हे नृप प्रधान ! घर के नित्य अभिनय को देख कर उसके वश में होने से ही नाट्य में भी आने-जाने व अन्य पाद गति प्रचार को यथानुरूप या विकृत कर योजित करें।

स्त्रीणां गतिस्याल्ललितप्रचारा
धीरा नराणां तथोद्धता स्यात्।
गतिप्रचारोऽर्थवशेन योज्य
श्चैतावदुक्तं तव राजसिंह ॥३९॥

स्त्रियों की गति ललित प्रचारा होती है। धीर पुरुषों की उद्धता होती है। हे राज सिंह ! यहाँ तक तुम्हें यही कहा है कि अर्थ के अनुसार ही गति-प्रचार की योजना करें।

वयोनुरूप प्रथमस्तु वेशो
वेशानुरूपश्च गतिप्रचारः ।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥४०॥

वय के अनुरूप प्रथम वेश, वेश के अनुरूप गति प्रचार, गति-प्रचार के अनुगत-पाठ्य (संवाद) और पाठ्य के अनुरूप अभिनय करें ।

॥इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्रसंवादे गतिप्रचारो नाम ॥२६॥

•

एकादश अध्याय

(त्रिंशोऽध्यायः)

रस-निरूपण

मार्कण्डेयः —

हास्य श्रृङ्गार करुणवीर रौद्र भयानकाः ।
बीभत्साद्भूत शान्ताख्या नव नाट्ये रसास्मृताः ॥१॥

नाट्य में नौ रस जाने गए हैं—हास्य, शृंगार, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत व शान्त ।[६७]

रसों की अन्य-जनकता—

शान्तो रसः स्वतंत्रोऽत्र पृथगेव व्यवस्थितः ।
श्रृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणोदयः ॥२॥
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानक ।
ऐतेषामङ्गवर्णाश्च (देवताश्च नराधिप) ॥३॥

शान्त रस यहाँ स्वतन्त्र है और पृथक से व्यवस्थित है। (शेष में भी) शृंगार से हास्य होता है, रौद्र से करुण का उदय होता है, वीर से अद्भुत की उत्पत्ति होती है तथा वीभत्स से भयानक की। हे नराधिप ! अब इनके अंग, वर्ण और देवता भी जानो ।

रसों के वर्ण—

शान्तः स्वभाववर्णस्तु रसः प्रोक्तो नराधिप ।
श्रृङ्गारस्तु भवेच्छ्यामो रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥४॥

हे नराधिप ! शान्त रस स्वाभाविक वर्ण का कहा गया है । शृंगार श्याम वर्ण होता है । रौद्र रक्त वर्ण बताया है ।

सितोहास्यश्च विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः ।
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः पीतश्चैवाद्भुतस्मृतः ॥५॥

हास्य को सफेद जानें, भयानक को काला । वीर को गौर वर्ण जानें तथा अद्भुत को पीला कहा गया है ।

रसों के देवता—

कापोत: करुणश्चैव नीलो बीभत्स एव च।
हास्य: प्रमथदैवस्तु शृङ्गारो विष्णुदैवत: ॥६॥

करुण रस कबूतर के समान है और वीभत्स नीला। हास्य के देवता प्रमथ (कामदेव) व शृंगार के विष्णु देवता हैं।

रौद्रो रुद्राधिदेवश्च करुणो यमदैवत:।
बीभत्सस्य महाकाल: कालदेवो भयानक: ॥७॥

रौद्र रस के अधिदेव रुद्र, करुण के यम, बीभत्स के महाकाल और भयानक के काल देवता हैं।

वीरो महेन्द्रदेवस्याददद्भुतो ब्रह्मदैवत:।
शान्तस्य देवो विज्ञेय: पर: पुरुष एव च ॥८॥

वीर के महेन्द्र देवता हैं, अद्भुत के देवता ब्रह्मा हैं तथा शान्त के देवता परमपुरुष को जानें।

शान्त रस —

शान्तस्य समुत्पत्तिर्नृप वैराग्यत: स्मृता।
सचाभिनेयो भवति लिङ्गग्रहणस्तथा ॥९॥

हे नृप ! शान्त की उत्पत्ति वैराग्य से मानी गई है। उसका अभिनय लिंग-ग्रहण से होता है।

सर्वभूतदयाध्यान मोक्षमार्गप्रवर्तनै:।
नास्ति यत्र सुखं दु:खं न द्वेषो नापि मत्सर: ॥१०॥
सम: सर्वेषु भूतेषु स शान्त: प्रथितो रस:।

सभी प्राणियों पर दया, ध्यान, मोक्ष-मार्ग के प्रवर्तन द्वारा जहाँ न सुख है न दु:ख, न द्वेष है न मात्सर्य, सभी प्राणियों में सम भाव—वह प्रसिद्ध शान्त रस है।

हास्य रस—

हास्यस्य तु समुत्पत्तिरसम्बद्ध प्रलापत: ॥११॥
असम्बद्धात्तथा वेशाद्भवतीति विनिश्चय:।

असम्बद्ध बकवास से हास्य की उत्पत्ति होती है। असम्बद्ध वेश से भी निश्चय ही (हास्योत्पत्ति) होती है।

आत्मस्थश्च परस्थश्च द्विविधः स च कीर्तितः ।।१२।।
आत्मस्थश्च स्वयं हासात्परस्थः पर हासनात् ।

वह (हास्य) आत्मस्थ व परस्थ दो प्रकार का कहा है । स्वयं के हँसने से आत्मस्थ व दूसरे के हँसने से परस्थ जानें ।

उत्तमाधममध्यानां त्रिविधः स भवेत्तदा ।।१३।।

तब वह (हास्य) उत्तम, मध्यम व अधम जनों का तीन प्रकार का होता है ।

ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैस्सौष्ठवान्वितैः ।
अलक्षित द्विजं चैव उत्तमानां स्मितं भवेत् ।।१४।।

थोड़े से खिले हुए गालों तथा सौष्ठव युक्त कटाक्ष द्वारा, दाँतों को न दिखाते हुए उत्तम जनों का स्मित होता है ।

तथा दर्शितदन्तस्तु मध्यमानां प्रकीर्तितम् ।
सास्रं तदधमानां स्यात्सस्वनं च महीभुज ।।१५।।

वैसे ही दाँतों को दिखाते हुए मध्यम जनों का हास्य होता है । वही आँसुओं व शब्दों के साथ अधम जनों का होता है ।

शृङ्गार रस—

शृङ्गारो द्विविधः प्रोक्तः सम्भोगाद्विरहात्तथा ।
विप्रलम्भकृतस्यात्र निर्वेदोऽभिनयक्रियः ।।१६।।

सम्भोग और विरह से जनित दो प्रकार का शृंगार होता है । इसे विप्रलम्भ किए जाने की निर्वेद अभिनय क्रिया है ।

विप्रलम्भे तु निर्दिष्टाः कामावस्थास्तथा दश ।
चक्षुः प्रीतिर्विनिर्दिष्टा प्रथमायां नराधिप ।।१७।।

विप्रलम्भ शृंगार में दस कामावस्थाएँ निर्दिष्ट हैं । हे नराधिप ! पहली अवस्था चक्षुः प्रीति (आँखों से प्रेम) बताई है ।

मनसश्च तथा सङ्गो द्वितीयायां प्रकीर्तितः ।
स्मरणं च तथा प्रोक्तं तृतीयायां निरन्तरम् ।।१८।।

द्वितीय कामावस्था में मन का मेल बताया गया है । तीसरी अवस्था में निरन्तर स्मरण कहा है ।

निद्राभेदश्चतुर्थ्यां तु पञ्चम्यां तनुता तथा।
व्यावृत्तिर्विषयेभ्यस्तु षष्ठ्यां प्रोक्ता नराधिप ॥१९॥

चौथी में नींद उड़ना और पाँचवीं में दुर्बलता, छठी में हे नराधिप ! विषयों से निवृत्ति कही गई है।

लज्जाप्रणाशः सप्तम्यामुन्मादस्तदन्तरम्।
नवम्यां तु तथा मूर्च्छा दशम्यां मरणं भवेत् ॥२०॥

सातवीं में लज्जा-नाश, उसके बाद उन्माद, नवीं में मूर्छा तथा दसवीं में मरण होता है।

द्वयोरुज्ज्वलयोस्तत्र सम्भोगाभिनयो भवेत्।
सुखप्रायेष्ट सम्पन्नो यत्र माल्यानुलेपकः ॥२१॥
पुरुष प्रमदायुग्मं शृङ्गार इति संज्ञितः।

पुरुष-स्त्री के जोड़े का नाम श्रृंगार दिया है। जहाँ ये दोनों माला, अनुलेपक आदि इच्छित सुखों से सम्पन्न-प्रायः होकर दमकते हों वहाँ सम्भोग अभिनय होता है।

करुण रस—

शोकाद् भवति राजेन्द्र तथैव करुणो रसः ॥२२॥
स्रस्तगात्रत्वनिःश्वासपरिदेवितरोदनैः ।
मुख वैवर्ण्य शोषैश्च तस्येहाभिनयो भवेत् ॥२३॥

इसी तरह हे राजेन्द्र ! शोक से करुण रस होता है। ढीला शरीर, लम्बी साँसें, जोर से रोना, मुख सूजना तथा रंग बदल जाने के द्वारा इसका अभिनय होता है।

रौद्र रस—

क्रोधाद्भवति रौद्रस्य रसस्य तु समुद्भवः।
रक्तत्व नेत्र भृकुटिर्क्रोधामर्षैः ससाहसैः ॥२४॥
पीडनैः शस्त्रसम्पातैस्तस्येहाभिनयो भवेत्।

क्रोध से रौद्र रस की उत्पत्ति होती है। लाल आँखें, टेढ़ी भौंह, क्रोध, अमर्ष, साहस, पीडन, शस्त्र सम्पात आदि के द्वारा इसका अभिनय होता है।

भयानक रस—

भयाद् भयानकस्येह रसस्य तु समुद्भवः ॥२५॥
मुखवैवर्ण्यसंत्रासशोषैरभिनयो भवेत् ।

भय से भयानक रस का उद्भव होता है । मुख सूखना, रंग बदल जाना, सत्रास द्वारा इसका अभिनय होता है ।

बीभत्स रस—

जुगुप्सया च भवति बीभत्सस्य समुद्भवः ॥२६॥
नासा विकूणनात्तस्य चोद्वेगेन तथैव च ।

जुगुप्सा (घृणा) से बीभत्स रस उत्पन्न होता है । नाक सिकोड़ने, उद्वेग आदि के द्वारा (इसका अभिनय होता है) ।

अद्भुत रस —

आश्चर्येण समुत्पत्तिरद्भुतं तत्प्रकीर्तितम् ॥२७॥
प्रस्फुरिताक्षि रोमाञ्चै रङ्गुलीभ्रमणादिभिः ।

स्वेदेन चाभिनेयस्स्यादद्भुतस्तु तथा रसः ॥२८॥

आश्चर्य से उत्पन्न अद्भुत रस कहा गया है । फैली हुई आँखें, रोमांच, अंगुलियों के घूमने और पसीने के द्वारा अद्भुत रस अभिनेय है ।

नाट्यस्य मूलं तु रसः प्रदिष्टो
रसेन हीनं न हि नृत्तमस्ति ।
तस्मात्प्रयत्नेन रसाश्रयस्य
नृत्तस्य यत्नः पुरुषेण कार्यः ॥२९॥

नाट्य का मूल रस बताया गया है । नृत्त भी रस से हीन नहीं होता । इस कारण लोगों द्वारा प्रयत्नपूर्वक रसाश्रित नृत्य का यत्न किया जाना चाहिए ।

॥ इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्र संवादे रसाध्यायो नाम ॥३०॥

द्वादश अध्याय

(एकत्रिंशोऽध्यायः)

भावों का निरूपण

मार्कण्डेयः —

भावाध्यायमतो वच्मि तन्मे निगदतः शृणु ।
हासाद्याः कथिता भावाः पञ्चाशत्त्वेकवर्जिताः ॥१॥

अब भावाध्याय कहता हूँ, वह मुझसे कहा हुआ सुनो । हास आदि उनचास भाव कहे गये हैं । ६८

हास—

परचेष्टानुकरणाद्धासः समुपजायते ।
स्मितहासातिहसितैरभिनेयः स पण्डितैः ॥२॥

दूसरे की चेष्टा के अनुकरण से 'हास' उत्पन्न होता है । वह पण्डितों द्वारा स्मित, हसित, अतिहसित द्वारा अभिनेय है ।

रति—

इष्टार्थ विषय प्राप्तौ रतिरित्युपजायते ।
सौम्यत्वादभिनेया सा वाङ्माधुर्यादिभिस्तथा ॥३॥

इष्टार्थ विषय की प्राप्ति से रति उत्पन्न होती है । वाणी की मधुरता आदि से सौम्यतापूर्वक वह अभिनेय है ।

शोक—

इष्टबन्धु वियोगेन धननाशेन पार्थिव ।
शोको भवति तस्य स्याद्रुदिताभिनयक्रिया ॥४॥

हे पार्थिव ! इष्ट बन्धु के वियोग से तथा धन-नाश से शोक होता है । रोने के द्वारा इसका अभिनय करें ।

क्रोध—

क्रोधश्चतुष्प्रकारश्च कर्त्तव्यो नाट्ययोक्तृभिः ।
रिपुजो गुरुजश्चैव भृत्यजः प्रणयोद्भवः ॥५॥

नाट्य प्रयोक्तागण चार प्रकार का क्रोध प्रदर्शित करें—शत्रु, गुरुजन, भृत्य तथा प्रणय से उत्पन्न ।

निर्यन्त्रितस्स शत्रूणां गुरूणां स्वेदसंयुतः ।
भृत्यानां च दयालुस्स्यात्सास्रस्यात्प्रणयोद्भवः ।।६।।

वह क्रोध शत्रुओं का निर्यन्त्रित, गुरुजनों का स्वेदयुक्त, भृत्यों का दयालु तथा प्रणय से उत्पन्न अश्रुयुक्त होता है ।

विस्मय—

कर्मातिशयनिर्वृत्तौ विस्मयो हर्षसम्भवः ।
सिद्धि स्थाने त्वसौ साध्यो रोमाञ्च हसनादिभिः ।।७।।

कर्मातिशय से निर्वृत्त विस्मय हर्ष से उत्पन्न होता है । इसे सिद्धि स्थान में रोमांच, हास आदि द्वारा साध्य करें ।

उत्साह—

असम्मोहाभिनिर्वृत्तौ व्यवसायनयात्मकः ।
उत्साहस्त्वभिनेयस्यादप्रमादक्रियादिभिः ।।८।।

असम्मोह की निर्वृत्ति में नीतियुक्त व्यवसाय वाला उत्साह अप्रमाद आदि क्रियाओं द्वारा अभिनेय होता है ।

भय—

स्वापराधसमुद्भूतं भयं नामेह जायते ।
वेपथुत्रासपतनै रभिनेयस्स सम्भ्रमैः ।।९।।

अपने ही अपराध से यह भय उत्पन्न होता है, जो वेपथु, त्रास, पतन व संभ्रम से अभिनेय है ।

जुगुप्सा—

बीभत्सदर्शनाद्यैस्तु जुगुप्सा नाम जायते ।
उद्वेजनैः स हृल्लेखैरभिनेयो विकूणनैः ।।१०।।

बीभत्स (घृणित) देखने से जुगुप्सा नामक भाव उत्पन्न होता है । वह क्षोभ, तर्क, विकूणन (नाक से आवाज) आदि के द्वारा अभिनेय है ।

निर्वेद—

दारिद्र्येष्ट विनाशे च निर्वेदो नाम जायते ।
परस्परविनिःश्वासैस्तस्याभिनयक्रिया ।।११।।

दारिद्रय और इष्ट विनाश में निर्वेद नामक भाव उत्पन्न होता है। परस्पर निःश्वास द्वारा इसका अभिनय करें।

ग्लानि—

वान्ते विरक्ते श्रान्ते च ग्लानिः स्यात्तपसा तथा।
मन्दाक्रमण कम्पाद्यैः क्षामत्वेन च दर्शयेत् ॥१२॥

वमन, विरक्ति, थकान व तप में ग्लानि होती है। धीमी चाल, दुर्बलता व कम्पन से इसे दिखाएँ।

शंका—

चौर्यादिभिर्ग्रहीतस्य शङ्का नामेह जायते।
आकारावरणं तस्याः कार्यं दिगवलोकनम् ॥१३॥

चोर आदि से पकड़े जाने की संभावना से शंका उत्पन्न होती है। इसका अभिनय आकार, आवरण एवं दिक् अवलोकन से करें।

असूया—

परापराधसम्भूता असूया नाम जायते।
गुणनाशन विद्वेषैः साभिनेया तथा बुधैः ॥१४॥

दूसरे के अपराध से उत्पन्न असूया नामक भाव होता है। बुद्धिमानों द्वार वह गुण-नाश, विद्वेष आदि के द्वारा अभिनेय है।

मद—

मद्योपयोगेन मदो जायते च त्रिभिस्तु सः।
उत्तमाधममध्यत्वात्पुरुषाणां स्वभावतः ॥१५॥

मद्य के उपयोग से मद उत्पन्न होता है। वह उत्तम, मध्यम व अधम पुरुषों के स्वभावानुसार तीन प्रकार का है।

दृग्भ्रमेणोत्तमानां स्यान्मध्यानां वाक्प्रलापतः।
अधमानां च पतनै रसम्बद्धपरिक्रमैः ॥१६॥

उत्तम जनों का मद आँखें घूमने से, मध्यजनों का वाणी के प्रलाप से व अधमों का असम्बद्ध घूमने व गिरने से होता है।

श्रम—

आयासेनाध्वना चैव श्रमो नामेह जायते।
गात्र मर्दन निःश्वासजृम्भणैस्तत्प्रयोजयेत् ॥१७॥

मेहनत और भ्रमण से श्रम नामक भाव उत्पन्न होता है। शरीर दबाना, लम्बी साँसें लेना तथा जमुहाई द्वारा उसका प्रयोग करें।

आलस्य—

गर्भेण खेदाद्रोगेण ह्यालस्यं स्यात्स्वभावत ।
तस्य प्रयोगः कर्त्तव्यः शयनासनसेवनात् ॥१८॥

गर्भ, खेद या रोग से स्वभावतः आलस्य होता है। शयन-आसन के सेवन द्वारा इसका प्रयोग करें।

दैन्य—

दौर्गत्येन मनस्तापाद्दैन्यं नामेह जायते ।
हृदयस्य वितर्केण तस्य त्वभिनयो भवेत् ॥१९॥

दुर्गति और मनस्ताप से दैन्य नामक भाव उत्पन्न होता है। हृदय के वितर्क से उसका अभिनय होता है।

मोह—

अस्थाने तस्करान्दृष्ट्वा त्रासनैर्विविधैस्तथा ।
तत्प्रतीकार शून्यस्य मोहस्समुपजायते ॥२०॥

निर्जन स्थान में चोरों को देखकर और विविध त्रासों से उनका प्रतिकार न होने पर मोह पैदा होता है।

व्यसनेनाभिघातेन वैरानुस्मरणेन च ।
सर्वेन्द्रियाणां मोहेन स तु कार्यः प्रयोक्तृभिः ॥२१॥

व्यसन, अभिघात (वार), बैर के स्मरण और सभी इन्द्रियों के सम्मोहन के द्वारा प्रयोक्तागण इस (मोह को) करें।

स्मृति—

स्मरणात्पूर्ववृत्तानां स्मृतिर्नामेह जायते ।
भ्रुव उत्क्षेपणात्तस्याः प्रयोगः कार्यं लोलनात् ॥२२॥

पूर्व वृत्तान्तों के स्मरण से यह स्मृति नाम का भाव उत्पन्न होता है। भौंह उठाने व आँखें घुमाने के द्वारा इसका प्रयोग करें।

धृति—

(लोक वृत्तान्त विज्ञानाद् धृतिर्नामेह जायते।)
प्रयोज्या लब्धभोगेन त्वलब्धस्य विवर्जनात् ॥२३॥

लोक-वृत्तान्त के जानने से यह धृति नामक भाव उत्पन्न होता है। जो अप्राप्त की वर्जना और प्राप्त के भोग द्वारा प्रयोज्य है।

क्रीड़ा—

क्रीड़ा नामेह भवति चापल्याद्धर्षसम्भवा।
क्रीड़नेन प्रयोज्या सा गुरुवाक्य प्रतिक्रमैः ॥२४॥

हर्ष-जन्य चपलता से क्रीड़ा नामक भाव उत्पन्न होता है। बड़ों की बात टाल कर खेलते रहने से वह प्रयोज्य है।

व्रीड़ा—

कृताकार्यस्य राजेन्द्र व्रीड़ा नामेह जायते।
अधोमुखेन सा कार्या भूलेखाकरणेन च ॥२५॥

हे राजेन्द्र! अकार्य करने से व्रीड़ा नामक भाव पैदा होता है। नीचा मुँह और भूमि पर आलेखन से इसे करें।

चपलता—

ज्ञेया चपलता राजन्नविचार्य क्रियावतः।
अयमेव प्रयोगस्य तथैव समुदाहृतः ॥२६॥

हे राजन्! बिना बिचारे करने को चपलता जानें। इसके प्रयोग का वैसा ही उदाहरण है।

हर्ष—

मनोरथानां लाभेन हर्षो नामेह जायते।
मुख प्रसाद रोमाञ्च प्रस्वेदैर्दर्शयेद् बुधः ॥२७॥

मनोरथों के लाभ से हर्ष नामक भाव उत्पन्न होता है। प्रसन्न मुख, रोमांच व पसीने से इसे बुधजन दिखाएँ।

आवेग—

सम्भ्रमाज्जायते राजन्नावेग इति सर्वदा।
आः शब्दोत्थानै दर्शनीयो बुधैस्तु सः ॥२८॥

हे राजन् ! सम्भ्रम से सदैव आवेग उत्पन्न होता है। बुद्धिमानों द्वारा 'आह्' शब्द उठाकर वह दिखाया जावे।

विषाद—

विषादस्य समुत्पत्तिः कार्यनाशेन जायते ।
निद्रानिःश्वसितव्याजैः साभिनेया तथा भवेत् ॥२९॥

कार्यनाश से विषाद की उत्पत्ति होती है। नींद व निःश्वास के बहाने से वह अभिनेय होता है।

औत्सुक्य—

उत्कण्ठा कारणैः सर्वैरौत्सुक्यं नाम जायते ।
आलस्यगुरुमात्रत्वे ध्यानेनाभिनयेच्च तत् ॥३०॥

उत्कण्ठा के सभी कारणों से औत्सुक्य नामक भाव पैदा होता है। आलस्य, भारीपन व ध्यान द्वारा वह अभिनेय है।

निद्रा—

रात्रि जागरणालस्यमदै र्निद्रेह जायते ।
नेत्राभिमर्दनात्कार्या जृम्भणा गात्र गौरवात् ॥३१॥

रात्रि-जागरण के आलस्य व मद से यह निद्रा उत्पन्न होती है। इसे आँखें मलने, जमुहाई, बदन तानने से करें।

अपस्मार—

अपस्मारस्तु भवति देवादीनां प्रकोपतः ।
निःसंज्ञत्वं समुत्थानं तस्येहाभिनयो भवेत् ॥३२॥

देवताओं आदि के प्रकोप से अपस्मार होता है। बेहोशी व उससे जागने के द्वारा इसका अभिनय होता है।

सुप्त, विबोध—

निद्रा समुत्थं सुप्तत्वं स्वपनं तत्र योजयेत् ।
निद्राच्छेदाद् विबोधे तु जृम्भणं तत्र योजयेत् ॥३३॥

नींद से उठना, सोना, सपने देखना की वहाँ योजना करें। नींद टूटने से जागने पर वहाँ जमुहाई की योजना करें।

अमर्ष —

विद्याशौर्यधनैश्वर्यैरमर्षो नाम जायते ।
शिरसः कम्पनैस्तस्य कार्यस्त्वभिनयो बुधैः ।।३४।।

विद्या, शौर्य, धन, ऐश्वर्य से अमर्ष नामक भाव उत्पन्न होता है । बुद्धिमान लोग सिर कँपाने के द्वारा इसका अभिनय करें ।

अवहित्थ—

धाष्ट्र्यजैह्म्यादिसम्भूतो ह्यवहित्थो भयात्मकः ।
सर्वाङ्गगोपनात्कार्यो ऽभिनयो नर्तनस्य च ।।३५।।

धृष्टता व छल से उत्पन्न भयात्मक अवहित्थ है । सभी अंगों को छुपाने से इसका अभिनय व नर्तन करें ।

उग्रता, मति —

चौर्यादिजातमुग्रत्वं कार्यं निर्भत्सनेन तत् ।
मतिश्शास्त्रोद्भवा ज्ञेया कार्या शिष्योपदेशतः ।।३६।।

चोरी आदि से उत्पन्न उग्रता को निर्भत्सना से करें । शास्त्रों से उत्पन्न मति जानें, इसे शिष्य-उपदेश द्वारा करें ।

व्याधि, उन्माद—

व्याधिर्दोषसमुत्थश्च ग्लानिः कार्या प्रयोक्तृभिः ।
वातप्रायस्तथोन्मादो यथा ज्ञेयो वियोगजः ।।३७।।
असच्चेष्टा प्रलापेन तस्याभिनयकारणम् ।

प्रयोक्तागण व्याधि-दोष से उत्पन्न वातप्रायः ग्लानि करें । उन्माद को वैसा ही वियोग से उत्पन्न जानें । असत् चेष्टा व प्रलाप द्वारा इसका अभिनय करें ।

मरण —

व्याधिभिर्वा प्रहारैर्वा मरणं नाम जायते ।।३८।।
कर्त्तव्योऽभिनयस्तस्य मूढेन्द्रियविचेष्टितैः ।

व्याधि से अथवा प्रहार से मरण नामक भाव उत्पन्न होता है । इन्द्रिय मूढ़ चेष्टाओं द्वारा इसका अभिनय करें ।

त्रास—

महाभैरवनादाद्यैस्त्रासस्समुपजायते ॥३६॥
संक्षिप्ताङ्गप्रकम्पाद्यै स्तस्य त्वभिनयो भवेत्।

महाभैरव नाद आदि से त्रास उत्पन्न होता है। छोटे अंगों को कँपाने आदि से इसका अभिनय होता है।

सन्देह—

विचारणार्थे सन्देहः कार्यो भ्रूक्षेपकम्पनैः ॥४०॥

विचार करने के अर्थ में सन्देह (नामक भाव) होता है, इसे भ्रूक्षेप, कम्पन आदि से प्रदर्शित करें।

क्रोध, भय—

क्रोधोऽपराधाद् भवति क्रोधाभिनयदर्शनः।
भयोऽपराधजो ज्ञेयो दृग्भयाभिनयात्मक ॥४१॥

क्रोध अपराध से उत्पन्न होता है, इसे गुस्से के अभिनय से दिखाएँ। भय भी अपराध से उत्पन्न जानें। आँखों से भय का अभिनय करें।

हर्ष रोमांच—

मनोरथाप्तिजो हर्षो रोमाञ्चेन प्रदर्शयेत्।
शीतक्रोधश्रमभयै रोमाञ्चस्य समुद्भवः ॥४२॥

मनोरथों की प्राप्ति से उत्पन्न हर्ष को रोमांच से प्रदर्शित करें। शीत, क्रोध, श्रम व भय से रोमांच का उद्भव होता है।

स्वर भेद, अश्रु—

स्वरभेदो भयाद्रौक्ष्यात्स्वरभेदेन दर्शयेत्।
शोकानन्द समुद्भूतमश्रु स्याद्रोदनेन तु ॥४३॥

भय या रूखेपन से होने वाला स्वरभेद आवाज के बदलने से ही दिखाएँ। शोक या आनन्द से उत्पन्न अश्रु रोने से (प्रदर्शित) होता है।

वैवर्ण्य—

वर्णाविरत्वाद्विज्ञेयं वैवर्ण्यं नाट्ययोक्तृभिः।
वैवर्ण्यं नाभिनेतव्यं प्रयत्नात्तद्धि दुष्करम् ॥४४॥

नाट्य प्रयोक्ताओं के द्वारा (चेहरे का) रंग बदलने से वैवर्ण्य जाना जाए। वैवर्ण्य का अभिनय न करें क्योंकि प्रयत्न करने से भी यह दुष्कर है।

हास्य के भाव—

ग्लानिः शङ्काभ्यसूया च श्रमश्चपलता तथा।
रोमाञ्च हर्षे निद्रा च उन्मादो मद एव च ।।४५।।
स्वेदश्चैववाहित्थं च भावा हास्यरसे स्मृताः।

ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चपलता, रोमांच, हर्ष, निद्रा, उन्माद, मय, स्वेद व अवहित्थ भाव हास्य के जानें।

श्रृंगार के भाव—

आलस्यौग्रयजुगुप्साभिर्भावा हि परिवर्जिताः ।।४६।।
उद्भावयन्ति श्रृङ्गारं रसमासाद्य संज्ञितम्।

आलस्य, औग्रय व जुगुप्सा परिवर्जित शेष भाव आसाद्य संज्ञित श्रृंगार रस को उद्भावित करते हैं।

करुण के भाव—

निर्वेदश्चैव चिन्ता च दैन्यग्लान्यश्रुभिस्तथा ।।४७।।
जड़ता मरणं चैव व्याधिश्च करुणे रसे।

निर्वेद, चिन्ता, दैन्य, ग्लानि, अश्रु, जड़ता, मरण और व्याधि करुण रस में जानें।

रौद्र के भाव—

असम्मोहस्ततोत्साह आवेगो मद एव च ।।४८।।
क्रोधश्चपलता हर्षो ह्यु ग्रता रौद्र सम्भवाः।

असम्मोह, उग्रता, उत्साह, आवेग, मद, क्रोध, चपलता, हर्ष से रौद्र रस सम्भव है।

बीभत्स के भाव—

अपस्मारस्तथोन्मादो विषादो मद एव च ।।४९।।
मृत्युर्व्याधिभयं चैव भाव बीभत्स संश्रया।

अपस्मार, उन्माद, विषाद, मद, मृत्यु, व्याधि व भय नामक भाव बीभत्स रस को उत्पन्न करने वाले हैं।

अद्भुत के भाव—

स्तम्भः स्वेदश्च मोहश्च रोमाञ्चो विस्मयस्तथा ।।५०।।
आवेगो जडता हर्षोऽसूया चैवाद्भुते रसे ।

स्तम्भ, स्वेद, मोह, रोमांच, विस्मय, आवेग, जड़ता, हर्ष और असूया नामक भाव अद्भुत रस में जानें ।

वीर के भाव—

स्वेदश्च वेपथुश्चैव रोमाञ्चं गद्गदस्तथा ।।५१।।
मतिश्चैव तथाग्रत्वममर्षो मद एव च ।
रोमाञ्च स्वरभेदश्च क्रोधोऽसूया धृतिस्तथा ।।५२।।
गर्वश्चैव वितर्कश्च वीरे भावा भवन्ति हि ।

स्वेद, वेपथु, रोमांच, गद्गद, मति, उग्रता, अमर्ष, मद, रोमांच, स्वरभेद, क्रोध, असूया, धृति, गर्व तथा वितर्क संज्ञक भाव वीर रस में होते हैं ।

भावों की रसाश्रयता—

ये चान्ये सात्त्विका नानाभिनययोनिजाः ।।५३।।
रसेष्वेतेषुते सर्वे विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ।

ये और अन्य जो भी विविध प्रकार के अभिनयों से उत्पन्न सात्त्विक भाव हैं उन सभी को नाट्य प्रयोक्ताजन इन्हीं रसों में जानें ।

स्थायी व संचारी भाव—

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु ।।५४।।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषास्सञ्चारिणः स्मृताः ।

बहुत से एकत्रित भावों में जिसका बहुत सघन रूप होता है वह स्थायी भाव रस मानें, शेष संचारी भाव जानें ।

शृंगार भेद

शृगारं त्रिविधं विद्याद्वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम् ।।५५।।

शृंगार रस वाणी, अंग व नेपथ्य क्रियात्मक तीन प्रकार का होता है ।

हास्य, रौद्र व करुण भेद—

अङ्ग नेपथ्य भावैश्च हास्य रौद्रौ प्रकीर्तितौ ।
धर्मार्थबन्धुघातेन करुणस्त्रिविधः स्मृतः ।।५६।।

अंग और नेपथ्य भाव से हास्य व रौद्र रस दो-दो प्रकार का बताया गया है। धर्म, अर्थ व बन्धुघात भेद से करुण रस तीन प्रकार का जाना गया है।

वीर भेद—

युद्धवीरं दानवीरं दयावीरं तथैव च।
रसं वीरमिति प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधमेव च ।।५७।।

जानकारों ने वीर रस को युद्धवीर, दानवीर व दयावीर इन तीन प्रकारों का कहा है।

भयानक भेद—

व्याजत्रासापराधैश्च त्रिधाविद्याद्भयानकम्।

व्याज (बहाना), त्रास और अपराध द्वारा तीन प्रकार का भयानक रस जानें।

न ह्येक रसजं काव्यं किञ्चिदस्ति प्रयोगजम्।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव च ।।५८।।

कोई भी प्रयोग किया जाने वाला काव्य एक ही रस से जन्म लेने वाला नहीं होता है। चाहे भाव हो या रस वे सब वृत्ति व प्रवृत्ति के ही आधीन हैं।

एकोनपञ्चाशदिमे समग्रा
भावास्त्र्यवस्था गदिता मयाते।
युक्त्या च ये यत्र रसे नियुक्ताः
प्रोक्तं तदप्यत्र नरेन्द्र चन्द्र ।।५९।।

हे नरेन्द्रचन्द्र ! ये सभी उनचास भाव तथा तीन अवस्थाएँ मेरे द्वारा तुम्हें बताई गई। ये रस में जहाँ-जहाँ नियुक्त किए जाएँ वह भी तुम्हें कहा।

।।इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्र संवादे भावाध्यायो नाम ।।३१।।

त्रयोदश अध्याय

(द्वात्रिंशोऽध्यायः)

मुद्रा-हस्तों का व्याख्यान

मार्कण्डेयः —

अथातो मुद्राहस्तान्व्याख्यास्यामः ।

अब मुद्रा-हस्तों की व्याख्या करता हूँ ।[१६]

वामस्य प्रसारिताङ्गुष्ठोपरि यदा कुब्जा तर्जनी भवति तदोङ्कारः । करमध्यगतासु सर्वास्वङ्गुलीषु क्रमात्कुब्जीकृतास्वङ्गुष्ठाद्यासु अ इ उ ए ओ । प्रसारितासु आ ई ऊ ऐ औ । अं मुकुलः । अः मुकुल विशेषः ।

बाँए हाथ के फैले हुए अंगूठे पर जब तर्जनी टेढ़ी होती है तक ओंकार । हथेली में गई हुई अंगुलियों में से क्रमशः अंगूठे से टेढ़ी करने पर अ इ उ ए ओ । फैलाने पर आ ई ऊ ऐ औ । अं मुकुल (हस्त से) । अः मुकुल विशेष द्वारा ।

अङ्गुष्ठमूलगतया परहस्ततर्जन्या क्रमात्कवर्गः सवर्गिः, परं रेखागतया त वर्गः । तदुपरि ब व श त यैः पवर्गः । तर्जनाद्यस्तु प्रथम पर्व गतया य वर्गः । अग्रेषु श वर्गः । मध्यमा नख स्पर्शे ह क्ष इति ।

बाँए हाथ के अंगूठे के मूल में तर्जनी आदि अंगुलियों को नीचे की ओर झुकाने पर क्रमशः क वर्ग, किन्तु रेखा पर जाने से त वर्ग । उसके ऊपर ब व श त से पं वर्ग । तर्जनी आदि जब पहले पौरुए पर आवें तब य वर्ग । अग्रभाग से श वर्ग । मध्यमा अंगुली के नख स्पर्श से ह क्ष ।

अ वासुदेवः । आ सङ्कर्षणः । अं प्रद्युम्नः । अः अनिरुद्धः । अञ्जलि पुरुषः । करयोः परस्पर पृष्ठलग्नयोः कनीयस्या कनीयसी चेति, तर्जन्या तर्जनी, अङ्गुष्ठेना ऽङ्गुष्ठ इति तार्क्ष्य मुद्रा ।

अ से वासुदेव । आ से संकर्षण । अं से प्रद्युम्न । अः से अनिरुद्ध । अंजलि से पर पुरुष । दोनों हाथों के पृष्ठ भाग इस प्रकार से मिलें कि कनिष्ठिका से कनिष्ठिका, तर्जनी से तर्जनी, अंगूठे से अंगूठा जुड़ा रहे तब तार्क्ष्य मुद्रा होती है ।

पताकः कुञ्चिताग्रस्तालः। तिर्यक् प्रसारिताङ्गुष्ठो मकरः। कुञ्चिताङ्गुलिरर्धचन्द्रः। दृश्यशिखरौ कनीयस्यङ्गुल्यग्रलग्नौ। संहताङ्गुष्ठः शङ्खः। अः कारौ संहतौ स्पृष्टाङ्गुलौ पद्मः। कुब्जाङ्गुष्ठो लक्ष्मी। मकरः प्रसारिताङ्गुलिश्शेषः।

पताक हस्त में अगले पौरुए झुकाने पर ताल। अंगूठे को तिरछा फैलाने पर मकर। अंगुलियों के कुंचित करने पर अर्धचन्द्र। दोनों हाथों की कनिष्ठिका अंगुलियों के आगे से मिले हुए शिखर हस्तों से दृश्य। अंगूठा समेटने पर शंख। दोनों हाथों की अः कार मुद्रा में परस्पर छूती हुई अंगुलियों के समेटने से पद्म। अंगूठा टेढ़ा करने पर लक्ष्मी। मकर मुद्रा में फैली हुई अंगुलियों से शेषनाग।

तदुपरि शिखरे भोगशयनः। अः कार प्रसारित मध्यमाङ्गुलिर्गरुड़। तत्रैव मध्यमाङ्गुलिः शिखर गृहीता गरुड़ वाहनम्। मध्यमिकयोरङ्गुष्ठयोश्चात्रयोगे चक्रः। उपर्युपरि कपित्थयोरुपरि चिबुके गदा।

उसके (शेष के) ऊपर शिखर हस्त से भोगशयन। अः कार में ही मध्यमा अंगुली के फैलाने पर गरुड़। उसी में मध्यमा अंगुली द्वारा शिखर हस्त ग्रहण करने के द्वारा गरुड़ वाहन। मध्यमा और अँगूठे के अगले पौरों के मिलने पर चक्र। दोनों हाथों के एक-दूसरे पर बने कपित्थ हस्तों के ऊपर चिबुक (ठोड़ी) होने पर गदा।

कपित्थ कुब्ज मध्यमिको हलः। कर्कटके मुसलम्। कपित्थमध्यभ्रष्टाङ्गुलिश्चर्म। कपित्थ पृष्ठतलाङ्गुलिः खड्गः। शिखरो मध्य भ्रष्टाङ्गुलिर्धनुः। तर्जनीमध्यमिकाङ्गुष्ठानां वियोगाच्छरः।

कपित्थ में मध्यमा के टेढ़ी करने से हल। कर्कट हस्त से मूसल। कपित्थ में नीचे झुकी मध्यमा से चर्म। कपित्थ में पृष्ठतल अंगुलियों से खड्ग। शिखर में बीच में झुकी हुई अंगुलियों से धनुष। तर्जनी, मध्यमा व अंगूठा समेटने व फैलाने से बाण।

मुकुल सञ्चित कनीनिकः कौस्तुभः। द्वौ शिखरौ पृथग् वनमाला। अः कारौ पृथग्लग्नौ नृसिंहः। शिखरे प्रसारित कनीनिकाधोमुखो वराहः। इ यशिरः। ओं वामनः। वितस्तिस्त्रिविक्रमः। अर्धचन्द्रो मत्स्यः। अधोमुखो कुब्जपताकः कूर्मो।

मुकुल हस्त में फैली कनिष्ठिका से कौस्तुभ । दोनों हाथों के अलग-अलग शिखर हस्तों से वनमाला । पृथक्-पृथक् अः कारों के मिलने पर नृसिंह । अधोमुख शिखर में कनिष्ठिका फैलाने पर वराह । इ से हयशिर । ओं से वामन । वितस्ति से त्रिविक्रम । अर्धचन्द्र से मत्स्य । अधोमुख कुब्ज पताका से कूर्म ।

शिखर प्रसारितकनीयानूर्ध्वमुखाङ्गुष्ठो हंसः । पताकः कुब्जकरमध्यो दत्तात्रेयः । कपित्थः परशुरामः । द्वौ शिखरौ युक्तौ दाशरथी । पताकः कृष्णः । त्रिपताको बलदेवः । शिखरो विष्णुः । उत्तान पताकः पृथिवी । कुब्ज पताकः प्रसारिताङ्गुष्ठः तोयः ।

शिखर में कनिष्ठिका फैला देने पर व अंगूठा ऊपर उठा देने से हंस । पताका में हथेली झुका देने पर दत्तात्रय । कपित्थ से परशुराम । दो मिले हुए शिखर हस्तों से दाशरथी राम । पताका से कृष्ण । त्रिपताक से बलदेव । शिखर से विष्णु । उत्तानपताक से विष्णु । कुब्ज पताक में फैले हुए अंगूठे से तोय (बादल) ।

अङ्गुष्ठाग्राङ्गुलिर्नखपरिमार्जितोऽग्निः । चलत्पताको वायुः । तिर्यङ्मुष्टि प्रसारित तर्जनिकोऽन्तरिक्षम् । वितस्तिद्वययोगो वर्तुली कृतोऽर्कः । अनामिकार्धेन वक्रश्चन्द्रः । सर्वासु मुकुलितासु प्रसारिते सहिते मध्यमातर्जनी नरनारायणौ ।

अंगूठे के अग्रभाग को तर्जनी अंगुली के नख से परिमार्जन करने पर अग्नि । चलित पताका से वायु । तिरछे मुष्टि हस्त में तर्जनी फैला देने पर अन्तरिक्ष । वितस्तिद्वय (दो बालिश्त) के योग को वर्तुल करने से अर्क (सूर्य) । अनामिका को आधी टेढ़ी करने से चन्द्र । मुकुल हस्त में मध्यमा-तर्जनी के फैला देने पर नर-नारायण ।

तत्रैव प्रसारिता अनामिकागुणाः ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः । वामस्य प्रसारिताङ्गुले तदुपरि तथाविध एव दक्षिणः कपिलः । चतस्रोऽप्यङ्गुल्यः प्रसृतास्तन्मूले कुञ्चितोऽङ्गुष्ठश्चत्वारश्च वेदाः । प्रसारित कनिष्ठिको ऋग्वेदः । सैवानामिकया सह प्रसारितो यजुर्वेदः । चतुरात्मा प्रसारिताङ्गुष्ठः सामवेदः ।

उसी में अनामिका फैला देने से त्रिगुण व ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर । बाँए हाथ की सभी अंगुलियाँ फैला देने पर और उसके ऊपर उसी प्रकार दाहिना

हाथ होने से कपिल। चारों अंगुलियाँ फैलाने और अंगूठे को उनके मूल में कुंचित करने से चार वेद। फैली हुई कनिष्ठिका से ऋग्वेद। वैसे ही अनामिका के फैला देने से यजुर्वेद। चतुरात्मा में फैले हुए अंगूठे से सामवेद।

वेष्ट्यमानास्वङ्गुलीषु करमध्यगमनेन गायत्री। सामवेदोऽधोमुखाङ्गुलिः शिक्षा। सैव दक्षिणदिशि नीता कल्पः। तर्जन्यङ्गुष्ठयोगे व्याकरणम्। शिखरेऽङ्गुष्ठेन तर्जनीमध्यगेन निरुक्तम्। खटकामुखाभ्यां ज्योतिषम्। अधोमुखश्छन्दो विचित्तिः।

लिपटी हुई अंगुलियों के हथेली की ओर जाने से गायत्री। सामवेद मुद्रा की अधोमुख अंगुलियों से शिक्षा। उसे ही दक्षिण दिशा में ले जाने से कल्प। तर्जनी अंगूठे के योग से व्याकरण। शिखर हस्त में अंगूठे द्वारा तर्जनी के मध्य जाने से निरुक्त। खटकामुख से ज्योतिष। अधोमुख से छन्द।

एता रहस्यमुद्रास्ते मयोक्ता नृपसत्तम।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सामान्यास्तान्निबोधमे ॥

हे नृपसत्तम! इतनी रहस्य मुद्राएँ मैंने कही। अब आगे सामान्य मुद्राएँ बतलाऊँगा, उन्हें भी मुझसे जानें।

॥इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्र संवादे रहस्यमुद्राध्यायो नाम ॥३२॥

चतुर्दश अध्याय

(त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः)

सामान्य मुद्राओं का वर्णन७०

भस्म मुद्रा—

मार्कण्डेयः—

उत्तानं तु करं कृत्वा चतस्रोऽङ्गुल्यः कुञ्चिताः ।
अङ्गुष्ठः पार्श्वतो योज्यो भस्ममुद्रा प्रकीर्तिता ॥१॥

हाँथ को ऊँचा करके चारों अंगुलियाँ कुंचित कर पार्श्व से अंगूठा जोड़ने पर भस्म मुद्रा बताई गई है ।

लिंग मुद्रा—

सा तिर्यगुच्छ्रिताङ्गुष्ठा लिङ्गमुद्रा प्रकीर्तिता ।

वही तिरछे उच्छ्रित अंगूठे से लिंग मुद्रा कही गई है ।

जटा मुद्रा -

अङ्गुल्यस्तिस्रः सङ्कोच्य अङ्गुष्ठोपरिसञ्चिताः ॥२॥
तर्जनीं प्रसृतां कृत्वा जटामुद्रा प्रकीर्तिता ।

तर्जनी फैला कर और शेष तीनों अंगुलियों को सिकोड़ कर अंगूठे के ऊपर इकट्ठा कर 'जटा मुद्रा' बताई गई है ।

नेत्र मुद्रा—

नेत्रमुद्रा यदा तस्यां नेत्रान्ते तर्जनी भवेत् ॥३॥

जब उसी (जटा मुद्रा) में तर्जनी आँख की कोर पर हो तब 'नेत्र मुद्रा' होती है ।

शशांक मुद्रा —

बन्धस्यास्य प्रकुर्वीत चाङ्गुष्ठं प्रसृतं तथा ।
उत्तानं मूर्ध्नि संयोज्यं शशाङ्कं तु विनिर्दिशेत् ॥४॥

इसका बंध करके और अंगूठा फैलाकर वैसे ही ऊपर सिर को लगा कर "शशांक" का निर्देश करें।

गोवृष मुद्रा—

अङ्गुल्यः प्रसृताः सर्वा वर्तुलाः शृङ्गरूपकाः।
मूर्ध्नि कृत्वा तु तां मुद्रां गोवृषं तु विनिर्दिशेत् ॥५॥

सभी अंगुलियाँ फैला कर उन्हें गोलाई से सींग के समान सिर पर रखकर उससे "गोवृष" दिखाएँ।

पर्यस्त मुद्रा—

तिर्यक् कृत्वा तु तं हस्तं सर्वसङ्कुचिताङ्गुलिम्।
अङ्गुष्ठं मध्यमावेष्ट्य पर्यस्तं तु विनिर्दिशेत् ॥६॥

उसी (गो वृष) हस्त को तिरछा करके सभी अंगुलियाँ सिकोड़ कर व मध्यमा अंगूठे से लपेट कर 'पर्यस्त मुद्रा' दिखाएँ।

पट्टि मुद्रा—

कनिष्ठिकां सङ्कुचितामङ्गुष्ठोपरिविन्यसेत्।
प्रसारयेत्ततस्तिस्रः पट्टि संज्ञं प्रकीर्तितम् ॥७॥

कनिष्ठिका को सिकोड़ कर अंगूठे के ऊपर रखें, तब शेष तीनों को फैलाएँ यह "पट्टि" नामक मुद्रा बताई है।

दीक्षा मुद्रा—

कनिष्ठिकानामिकामध्ये दीक्षाङ्गुष्ठं प्रकीर्तितम्।

कनिष्ठिका-अनामिका के बीच अंगूठा से 'दीक्षा मुद्रा' बताई गई है।

अनन्त मुद्रा—

उत्तानौ तु करौ कृत्वा अन्योन्यान्तरिताङ्गुली ॥८॥
कनिष्ठिकान्ते चाङ्गुष्ठं अनन्तेति प्रकीर्तिता।

दोनों हाथ ऊपर उठाकर सभी अंगुलियाँ एक-दूसरे में निकाल कर व अंगूठे को कनिष्ठिका के अन्त में रखने पर अनन्त मुद्रा कही गई है।

धर्म मुद्रा—

उत्तानं दक्षिणं हस्तं त्वधो वामं तथोपरि ॥९॥
करजान्योन्य संयोगाद् धर्मस्य परिकीर्तिता।

दाहिना हाथ ऊँचा कर उस पर अधोमुख बांया, उनके नखों के अन्यान्य संयोग से "धर्म मुद्रा" बताई गई हे।

ज्ञान मुद्रा—

सा चैव विपरीता तु ज्ञानस्य परिकीर्तिता ॥१०॥

वही (धर्म मुद्रा) विपरीत होने पर "ज्ञान मुद्रा" कही गई है।

वैराग्य मुद्रा—

कनिष्ठिके द्वे चाङ्गुष्ठौ युग्मे कृत्वा प्रसारयेत्।
वैराग्यस्य भवेन्मुद्रा सर्वकर्मकरी शुभा ॥११॥

दोनों कनिष्ठिका में दोनों अंगूठे जोड़कर फैलाएँ, यह सर्व कर्म की शुभा 'वैराग्य मुद्रा' है।

ऐश्वर्य मुद्रा—

पृष्ठे पृष्ठं तु संयोज्य करयोरुभयोरपि।
कनीन्यङ्गुष्ठयोगेन भवत्यैश्वर्यमेव च ॥१२॥

दोनों हाथों की पीठ में पीठ मिला कर कनिष्ठिका व अंगूठे के मिलने पर 'ऐश्वर्य मुद्रा' होती है।

पद्माकार मुद्रा—

पद्माकारो भवेद्धस्तः कनिष्ठा तर्जनीयुतः।

कनिष्ठा व तर्जनी के मिलने से "पद्माकार मुद्रा" होती है।

प्रणाल मुद्रा—

चतस्र उच्छ्रिताः कृत्वा पृष्ठेऽन्योन्यं तु योजयेत् ॥१३॥
अङ्गुष्ठावेकतः कृत्वा प्रणालं चैव कारयेत्।

चारों अंगुलियाँ उच्छ्रित कर पीछे की ओर एक-दूसरे से मिला दें, दोनों अंगूठे एक तरफ करके 'प्रणाल मुद्रा' करें।

सकल मुद्रा—

सकलस्य भवेन्मुद्रा दुष्टानां शमनी शुभा ॥१४॥
त्रयः सङ्कुचिता यत्र कनिष्ठाङ्गुष्ठकेवलाः।

जहाँ तीनों अंगुलियाँ संकुचित हों, केवल कनिष्ठा व अंगूठा ··· (?), दुष्टों का शमन करने वाली शुभा 'सकल मुद्रा' है।

निष्कलरूपिणी—

उत्तानं दक्षिणाङ्गुष्ठं वामाङ्गुष्ठेन वेष्टयेत् ॥१५॥
दक्षिणाङ्गुलिभिश्चात्र वामाङ्गुष्ठं तु वेष्टयेत् ।
वामस्याङ्गुलिभिश्चात्र त्वङ्गुलीः परिवेष्टयेत् ॥१६॥
तर्जन्यौ कुञ्चितौ कृत्वा मुद्रा निष्कलरूपिणी ।

दाहिने उत्तान अंगूठे को बाँए अंगूठे से आवेष्टित करें, दाहिनी अंगुलियों से भी यहाँ बाँए अंगूठे को वेष्टित करें। बाँयी अंगुलियों से भी यहाँ (दाहिनी) अंगुलियाँ परिवेष्टित करें, दोनों तर्जनी कुंचित करें, यह 'निष्कलरूपिणी मुद्रा' जानें।

देवी मुद्रा—

उत्तानौ तु करौ कृत्वा अङ्गुष्ठाङ्गुलिकुञ्चितौ ॥१७॥
करमध्य स्थिता ह्येता नखांस्तासां तु गोपयेत् ।
पृष्ठं पृष्ठे तु संयोज्य त्वङ्गुष्ठौ विन्यसेत्समम् ॥१८॥
मालाकारं ततः कृत्वा देव्या मुद्रा प्रकीर्तिता ।

दोनों हाथ उत्तान कर अंगूठा व अंगुलियाँ कुंचित कर उनके नखों को हथेली में छुपाएँ, पीठ से पीठ मिलाकर दोनों अंगूठे सम रखें, तब मालाकार करके देवी की मुद्रा बतलाई गई है।

शक्त्याकार मुद्रा—

अङ्गुष्ठोऽङ्गुष्ठके योज्यः कनिष्ठायां कनिष्ठिका ॥१९॥
करमध्ये तु ताः कृत्वा षडाभ्यामेकतः कुरु ।
सङ्कोच्य तु षडेतानि शक्त्याकारं तु कारयेत् ॥२०॥

अंगूठे से अंगूठा व कनिष्ठा से कनिष्ठा मिला कर उन्हें हथेली में करें, तब शेष छः अंगुलियों को एक सी कर उन छः को संकुचित कर "शक्त्याकार मुद्रा" करें।

स्कन्द मुद्रा—

स्कन्दस्य तु स्मृता मुद्रा अभेद्या त्रिदशैरपि ।
अधोमुखं करं कृत्वा तिस्रोऽङ्गुल्यस्तु कुञ्चिता ॥२१॥

अधोमुख हाथ में तीन अंगुलियाँ कुंचित करने पर देवताओं द्वारा भी अभेद्य "स्कन्द मुद्रा" जानें।

दन्ताकार मुद्रा—

त्रिताला मध्यमा यत्र किञ्चित्सङ्कुचिता भवेत् ।
तर्जन्यां योजयाङ्गुष्ठे दन्ताकारं तु दर्शयेत् ॥२२॥
विघ्नराजस्य मुद्रैषा सर्वविघ्नप्रणाशिनी ।

जहाँ तर्जनी अंगूठे से जुड़ी हो व शेष तीन में से मध्यमा कुछ झुकी हो तब "दन्ताकार मुद्रा" दिखाएँ । यह विघ्नराज की मुद्रा सारे विघ्नों का नाश करने वाली है ।

शक्र मुद्रा—

उत्तानौ प्रसृतौ हस्तौ तर्जन्यङ्गुष्ठसंयुतौ ॥२३॥
अस्य वामौ तु संयोज्य शक्रमुद्रा प्रकीर्तिता ।

तर्जनी व अंगूठा मिले हुए दोनों हाथों को उत्तान प्रसारित कर व एक-दूसरे से विपरीत रखकर "शक्र (इन्द्र) मुद्रा" बताई गई है ।

हुताशन मुद्रा—

सङ्कोच्य करजं मध्ये हस्तयोरुभयोरपि ॥२४॥
प्रसृताङ्गुष्ठमुत्तानं योज्या मुद्रा हुताशने ।

दोनों हाथों के नखों को हथेली में संकुचित कर तथा अंगूठों को उत्तान प्रसारित कर "हुताशन (अग्नि) मुद्रा" की योजना करें ।

विरूपाक्ष मुद्रा—

अधोमुखं करं कृत्वा यस्य स्यात्कुञ्चिताङ्गुलिः ॥२५॥
विरूपाक्षस्य मुद्रैषा भवेन्मध्या प्रसारिता ।

अधोमुख हाथ करके जिसकी अंगुलियाँ कुंचित हैं, मध्यमा फैली है, यह "विरूपाक्ष (शिव) मुद्रा" है ।

वारुणी मुद्रा—

उत्ताने प्रसृताङ्गुल्यः करे भवेति वारुणी ॥२६॥

फैली हुई अंगुलियों वाले उत्तान हाथ से "वारुणी मुद्रा" होती है ।

मारुती मुद्रा—

तामेव तु यदा तिर्यक् तदा भवति मारुती ।

उसी में जब तिरछे (हाथ) हों तब "मारुती मुद्रा" है ।

कौबेरी मुद्रा—

निकुञ्चिताश्च तास्सर्वाः कौबेरी तु प्रकीर्तिता ॥२७॥

उन सब (अंगुलियों) के कुंचित होने पर "कौबेरी मुद्रा" कही गई है।

ईशानी मुद्रा—

मध्ये प्रसारिताः तिस्रो मुद्रेशानी प्रकीर्तिता।

तीनों बीच में फैली हुई अंगुलियों से 'ईशानी मुद्रा" कही गई है।

ब्रह्म व अनन्त मुद्रा—

ब्रह्मण पद्ममुद्रा स्याद् भोगोऽनन्तस्य कीर्तितः ॥२८॥

ब्रह्मा की 'पद्म मुद्रा' होती है। अनन्त की 'भोग मुद्रा' कही गई है।

वामासक्त मुद्रा—

वामासक्तस्य वामां तु दक्षिणानामपक्रमे।

दाहिनों के झुकने पर बाँयों से 'वामासक्त मुद्रा' जानें।

वज्र मुद्रा—

तयोरग्राणि ग्रह्णीत तर्जन्यग्रद्वयेन तु ॥२९॥
सङ्कोचयेत्षडेतानि स्वाङ्गुष्ठे तर्जनीं न्यसेत्।
वज्रः एषः समाख्यातः शक्तिः पूर्वमुदाहृता ॥३०॥

दोनों तर्जनियों के अगले पोरुओं से उनके अग्रभाग ग्रहण करने पर, इन (शेष) छहों को संकुचित कर अपने अंगूठे पर तर्जनी रखें—यह 'वज्र मुद्रा' कही गई है। शक्ति मुद्रा पहले ही बता दी गई है।

दण्ड मुद्रा—

करौ बाहुद्वयं चैव दण्डमुद्रा प्रसारिता।

दोनों हाथ व भुजाएं फैले होने पर 'दण्ड मुद्रा' है।

खड्ग मुद्रा—

कनिष्ठानामिका द्वे द्वे अंतर्याङ्गुष्ठकुञ्चितौ ॥३१॥
चत्वारः प्रसृता युग्मः खड्गमुद्रा प्रकीर्तिता।

दो-दो कनिष्ठा अनामिका के बीच में दोनों अंगूठे कुंचित, चारों (अंगुलियाँ) फैली हुई—यह युग्म (जोड़ा) "खड्ग मुद्रा" कहा जाता है।

वर्तुलां तर्जनीं कृत्वा अङ्गुष्ठोपरि विन्यसेत् ।।३२।।
दक्षिणां तर्जनीं चैव तस्यास्ये तु नियोजयेत् ।
दक्षिणां कुञ्चितं कृत्वा तिस्रो वामाःप्रसारिताः ।।३३।।

तर्जनी को घुमा कर अंगूठे पर रखें। दाहिनी तर्जनी को उसके सामने रखें। दाहिनी अंगुलियाँ कुंचित करके बाँयी तिरछे फैलाएँ।

मुष्टिं कृत्वा तु वामेन त्वङ्गुष्ठं तु समुच्छ्रयेत् ।
अङ्गुष्ठेन तु संगृह्य पताका प्रसृतापरा ।।३४।।

बाँए मुष्टि करके अंगूठा उच्छ्रित करें। अंगूठे से समेट कर दूसरा पताका में फैला हुआ।

गदा मुद्रा—

तिर्यक्करं तु कृत्वा वै सङ्कुच्य चतुरङ्गुलीः ।
अङ्गुष्ठं प्रसृतं कृत्वा गदा मुद्रा तथापरा ।।३५।।

हाथ तिरछा करके चारों अंगुलियाँ समेट कर तथा अंगूठे को फैला कर दूसरी 'गदा मुद्रा' (प्रदर्शित करें)।

शूल मुद्रा—

अन्योन्यं योजयेद्धस्तौ कनिष्ठाङ्गुष्ठयोजितौ।
तदेव युग्म प्रसृता शूल मुद्रा प्रकीर्तिता ।।३६।।

कनिष्ठा अंगूठे से जुडी हुई है जिनमें, ऐसे दोनों हाथों को एक-दूसरे से मिलाएँ, इसी तरह दोनों के फैलने पर ''शूल मुद्रा'' कही गई है।

द्रव्यरूपा मूद्रा—

नित्यं प्रसारयेद्धस्तं स्वस्त्याकारं तु योजयेत् ।
मध्यमे कन्यसे द्वे द्वे प्रसृताग्रे नियोजयेत् ।।३७।।
तर्जनी द्वय सङ्कुच्य मध्यमा पृष्ठ संस्थिता ।
द्रव्यरूपा स्मृता ह्येषा आत्मभावे नियोजयेत् ।।३८।।

हाथ को नित्य प्रसारित करें, स्वस्त्याकार जोड़ें। आगे की फैली दो-दो मध्यमा कनिष्ठा मिलाएँ। दोनों तर्जनी सिकोड़ कर मध्यमा की पीठ पर रखें। इसे 'द्रव्यरूपा मुद्रा' जानें। आत्मभाव में प्रयुक्त करें।

वैष्णवी मुद्रा—

उत्तानौ तु करौ कृत्वा षडेतेऽङ्गुलयः स्मृताः ।

समाना; सुसमानाश्चयोजिता वैष्णवी भवेत् ॥३९॥

दोनों हाथ उत्तान करें, ये दोनों छः अँगुल जानें, इन्हें सुसमान रूप से रखने पर वैष्णवी मुद्रा होती है।

घृत मुद्रा—

तर्जन्यौ कुञ्चिते कृत्वा मध्यमा पृष्ठतो न्यसेत्।
कनिष्ठोपरि चाङ्गुष्ठौ घृतमुद्रा प्रकीर्तिता ॥४०॥

दोनों तर्जनी कुंचित करके मध्यमा की पीठ पर रखें, कनिष्ठा पर दोनों अंगूठे हों तब 'घृत मुद्रा' कहा है।

गंध मुद्रा—

उत्तानं वामहस्तं च दक्षिणं चाप्यधोमुखम्।
मध्यमानामिके द्वे दे सङ्कुच्याङ्गुष्ठसंस्थिते ॥४१॥
तर्जनी कन्यका चैव मध्यमाभ्यां समाक्रमेत्।
द्वितीया द्रव्यरूपी च गंध मुद्रा प्रकीर्तिता ॥४२॥

बाँया हाथ उत्तान, दाहिना अधोमुख, दो-दो मध्यमा अनामिका संकुचित कर अंगूठे पर रखी हुई, तर्जनी व कनिष्ठा भी दोनों मध्यमा से आक्रमित हों —इसे दूसरी द्रव्यरूपा 'गंध मुद्रा' कही गई है।

पुष्प मुद्रा—

उत्तानौ तु करौ कृत्वा कन्यसानामिका तथा।
सङ्कोचयित्वा चत्वारो मध्यमे द्वे प्रसारयेत् ॥४३॥
अङ्गुष्ठगे च तर्जन्यौ पुष्प मुद्रा प्रकीर्तिता।

दोनों हाथ उत्तान कर, कनिष्ठिका व अनामिका चारों संकुचित, दोनों मध्यमा फैलाएँ, दोनों तर्जनी अंगूठे पर गई हुई—यह 'पुष्प मुद्रा' कही गई है।

धूप मुद्रा—

उत्तानौ तु करौ कृत्वा षडङ्गुलिनिकुञ्चितौ ॥४४॥
प्रसृते तर्जनीं कृत्वा चाग्रमग्रे नियोजयेत्।
तयोर्मूले तथाङ्गुष्ठौ धूपमुद्रा प्रकीर्तिता ॥४५॥

दोनों हाथ उत्तान करके छः अंगुल पर निकुंचित करें, दोनों तर्जनी फैला कर आगे-आगे रखें तथा उनके मूल में दोनों अँगूठे रखें—यह 'धूप मुद्रा' कही गई है।

दीप मुद्रा—

तर्जन्यां तर्जनी यत्र कनीयस्यां कनीयसी ।
चतस्र उच्छ्रिताः कृत्वा पृष्ठं पृष्ठे नियोजयेत् ॥४६॥
अङ्गुष्ठावुच्छ्रितौ कृत्वा दीपमुद्रा प्रकीर्तिता ।

जहाँ तर्जनी से तर्जनी, कनिष्ठा से कनिष्ठा (जुड़े) फिर चारों को उच्छ्रित कर उनकी पीठ से पीठ मिला दें, दोनों अँगूठे भी उच्छ्रित करें—यह 'दीप मुद्रा' कही गई है ।

नैवेद्य मुद्रा—

उच्छ्रिताङ्गुलयस्सर्वाः करयोरुभयोरपि ॥४७॥
पृष्ठं पृष्ठे तु संयोज्य अङ्गुष्ठाग्रे नियोजयेत् ।
नैवेद्य मुद्रा कथिता फलाकारकरा शुभा ॥४८॥

दोनों हाथों की सभी अँगुलियाँ उच्छ्रित कर उनकी पीठ से पीठ मिला कर अँगूठा आगे रखें - यह फलदायिनी शुभा 'नैवेद्य मुद्रा' है ।

पुष्प मुद्रा—

अङ्गुल्यः संहताः सर्वास्तथा सङ्कुचिताश्च याः ।
पुष्पमुद्रा विनिर्दिष्टा द्वितीया यदुनन्दन ॥४९॥

हे यदुनन्दन ! जहाँ सभी अँगुलियाँ संहत (सिमटी) और वैसे ही संकुचित हों वह दूसरी 'पुष्प मुद्रा' बताई है ।

महामुद्रा—

अङ्गुष्ठौ चैकतः कृत्वा अनामा च कनीयसी ।
मध्यमे द्वे च संकोच्य अनामा पृष्ठतो न्यसेत् ॥५०॥
दत्त्वा चैव तु तर्जन्यौ मध्यमाः परिविन्यसेत् ।
महामुद्रा भवत्येषा सर्वद्रव्य प्रपूरिणी ॥५१॥

दोनों अँगूठे एक तरफ करके अनामिका व कनिष्ठिका, दोनों मध्यमा संकुचित कर अनामिका की पीठ पर रखें, दोनों तर्जनी मध्यमा पर रखें—यह समस्त द्रव्यों की पूर्ति करने वाली 'महामुद्रा' होती है ।

अमृतमुद्रा—

अनामा मध्यमे द्वे तु अन्योन्यान्तरिते कृते ।
संयोज्य मध्यमे स्वाग्रं तर्जनीद्वयमेव च ॥५२॥

कनिष्ठाद्ये तथा द्वे तु स्वाग्रेऽनाम्नि नियोजयेत् ।
अर्धस्थितौ तथाङ्गुष्ठो अमृताख्या प्रकीर्तिता ।।५३।।

दोनों अनामिका मध्यमा अन्योन्य अन्तरित करके मध्यमा में अपने आगे दोनों तर्जनी जोड़ कर, दोनों कनिष्ठा के अपने आगे अनामिका रखें, अर्ध-स्थित दोनों अँगूठे—यह 'अमृत' नामक मुद्रा कही गई है ।

चण्डीशमुद्रा—

चण्डीश मुद्रा कथिता अञ्जलिः कुब्जतर्जनी ।

अंजली में तर्जनी टेढ़ी करने पर 'चण्डीश मुद्रा' कही है ।

अस्त्रमुद्रा—

अस्त्रमुद्रा भवेद्राजन् पद्मः स्यात्संहताङ्गुलि ।।५४।।

हे राजन् ! पद्म हस्त में अँगुलियाँ समेटने पर 'अस्त्र मुद्रा' होती है ।

सद्यःजात मुद्रा

दक्षिणेन तु हस्तेन मुष्टिं बध्वा प्रयत्नतः ।
अङ्गुष्ठमुन्नतं कृत्वा वामाङ्गुष्ठे तु निक्षिपेत् ।।५५।।
दक्षिणां च तथा मुष्टिं वामाङ्गुल्या तु वेष्टयेत् ।
सद्योजातस्य मुद्रैषा कथिता पापनाशिनी ।।५६।।

दाहिने हाथ से प्रयत्नपूर्वक मुट्ठी बाँध कर, अँगूठा उन्नत करके बाँए अँगूठे पर रखें, दाहिनी मुट्ठी को बाँयी अँगुलियों से वेष्टित करें—यह सद्यः-जात की पापनाशिनी मुद्रा कही गई है ।

वामदेव मुद्रा—

इयमेव विपर्यस्ता वामदेवस्य कीर्तिता ।

यही (सद्योजात मुद्रा) विपरीत होने पर 'वामदेव' की बताई गई है ।

वामनमुद्रा—

करसम्पुटकं कृत्वा वामनानां तु कारयेत् ।।५७।।

कर-सम्पुटक करके वामनों (बौनों) की मुद्रा करें ।

अघोर मुद्रा—

दक्षिणे मध्यमाकुञ्च्य अङ्गुष्ठौ कुञ्चयेत्तथा ।
शूलाकारं ततः कृत्वा हृदयं परिवर्तयेत् ।।५८।।
अघोरस्य स्मृता मुद्रा सर्वविघ्नविनाशिनी ।

दाहिनी मध्यमा आकुंचित करके दोनों अँगूठे कुंचित करें, तब शूलाकार करके मध्य भाग परिवर्तित करें—इसे सभी विघ्नों का नाश करने वाली 'अघोरमुद्रा' जानें।

वज्र मुद्रा—

उत्तानौ तु करौ कृत्वा अनामा द्वय कुञ्चितौ ॥५६॥
तस्यामुपरिचाङ्गुष्ठौ तर्जन्यौ द्वे च कुञ्चिते।
मध्याऽनामेतु ते द्वे तु कनिष्ठामेकतो न्यसेत् ॥६०॥
मुद्रैषा वज्रसंज्ञस्य सर्वदुष्टनिवारिणी।

दोनों हाथ उत्तान करके दोनों अनामिका कुंचित करें, उनके ऊपर दोनों अँगूठे, दोनों तर्जनी कुंचित कर, दोनों मध्यमा अनामिका से एक ओर कनिष्ठिका करें—यह सर्व दुष्ट-निवारिणी 'वज्र' नाम की मुद्रा है।

ईशान मुद्रा—

कनिष्ठानामिके द्वे द्वे अन्तरान्तरयोजिते ॥६१॥
आकुञ्च्यान्तरिते योज्ये शेषे चैव प्रसारिते।
ईशानस्य भवेन्मुद्रा सर्वकर्मकरी शुभा ॥६२॥

दोनों कनिष्ठिका व अनामिका परस्पर अन्तरित कर आकुंचित करें तथा शेष (अँगुलियों) को फैला देने पर सर्वकर्मकरी शुभा 'ईशान मुद्रा' होती है।

व्योम मुद्रा—

तर्जन्यौ कुञ्चिते कृत्वा तथैव च कनीयसी।
अधोमुखां स्पृष्टनखां स्थितां मध्ये करस्य तु ॥६३॥
चतस्रश्चोच्छ्रिता पृष्ठे त्वङ्गुष्ठावेकतः कुरु।
नाल व्यवस्थितो द्वौ तु मुद्रा व्योम्नः प्रकीर्तिता ॥६४॥

दोनों तर्जनी कुंचित करके वैसी ही कनिष्ठिका, अधोमुख, कर-मध्य (हथेली) में नखों को छूती हुई, (शेष) चारों पीछे की ओर उच्छ्रित, दोनों अँगूठे एक तरफ करें, कमल नाल के समान रखे गए दोनों हाथों से 'व्योम मुद्रा' बताई है।

सर्वात्मन मुद्रा—

मुष्टिं बध्वा तु वामेन तर्जनीं सम्प्रसारयेत्।
ग्राह्या दक्षिण मुष्ट्या तु सर्वात्मनो भवेत् ॥६५॥

बाँए से मुष्टि बाँध कर तर्जनी को फैलाएँ, (इसे) दाहिनी मुष्टि से पकड़े जाने पर 'सर्वात्मन मुद्रा' होती है।

शिव मुद्रा—

वाममुष्टौ तथाङ्गुष्ठं दक्षिणं प्रक्षिपेद् बुधः।
करजाः पृष्ठतो योज्या मुद्रैषा शिव संज्ञिता ॥६६॥

बुद्धिमानजन बाँयी मुष्टि पर दाहिना अँगूठा रखें, नाखून पीछे की ओर से मिलाने पर 'शिव' नामक मुद्रा है।

शिखा मुद्रा—

अङ्गुल्योऽन्तर्हिताः सर्वा वर्तुलागर्भ संस्थिताः।
प्रसृता मध्यमायुक्ता शिखा मुद्रा प्रकीर्तिता ॥६७॥

सभी अँगुलियाँ अन्दर की ओर गोलाई घूम कर हथेली में स्थित हों, फैली हुई मध्यमा वाली यह 'शिखा मुद्रा' बताई गई है।

धर्मज्ञ मुद्रा—

अधोमुखास्तु वै तिस्रस्तिर्यक्ताश्च सुसंस्थिताः।
कनीयस्युपरि त्वामां ताश्च सर्वाअधोमुखाः ॥६८॥
तासामुपरि चाङ्गुष्ठं दक्षिणं संप्रयोजयेत्।
वामे धर्मज्ञ मुद्रैषा कथिता पिङ्गलस्य तु ॥६९॥

तीन अँगुलियाँ अधोमुख तिरछी स्थित हों, कनिष्ठिका के ऊपर वे सभी अधोमुख रहें, बाँए उन सब पर दाहिना अँगूठा रखें, यह पिंगल की 'धर्मज्ञ मुद्रा' कही गई है।

अस्त्र मुद्रा—

बन्धे त्वनामिका त्वस्मिन्मुद्रा ह्यस्त्रस्य कीर्तिता।

इसी में अनामिका के बाँधते पर 'अस्त्र मुद्रा' कहा है।

गायत्री मुद्रा—

उत्तानौ तु करौ कृत्वा उभावेकत्र योजयेत् ॥७०॥
करजास्तु स्मृतास्सर्वा मुद्रा गायत्री संज्ञिता।

दोनों हाथ उत्तान करके सभी नाखूनों को एक साथ जोड़ दें, इसे 'गायत्री मुद्रा' जानें।

शक्ति मुद्रा—

मुष्टौ प्रसारयेदेकामङ्गुलीं तु क्रमान्नृप ।।७१।।
तर्जन्यन्तां कनिष्ठाद्यां शक्ति मुद्रा प्रकीर्तिता ।

हे नृप ! मुष्टि में एक-एक कर अँगुलियां फैलाएं, कनिष्ठा आरम्भ में, तर्जनी अन्त में—यह 'शक्ति मुद्रा' कही गई है ।

नमस्कार मुद्रा—

हृदि न्यस्तोऽञ्जलिर्ज्ञेयो नमस्कारो नराधिप ।।७२।।

हे नराधिप ! हृदय पर स्थित अँजली से 'नमस्कार' जानें ।

ध्वज मुद्रा—

कपित्थात्तर्जनीं गृह्य शिखरेण ध्वजो भवेत् ।

कपित्थ से तर्जनी ग्रहण कर शिखर द्वारा 'ध्वज' होता है ।

शशकर्णी मुद्रा—

अङ्गुष्ठे योज्य तर्जन्यौ हस्तोत्तानौ स्मृताङ्गुली ।।७३।।
मणिबन्धौ निपीड्यैव शशकर्णी भवेन्नृप ।

हे नृप ! दोनों उत्तान हस्तों में अँगूठे से तर्जनी अँगुलियां जोड़ कर दोनों मणिबन्ध दबाने से 'शशकर्णी मुद्रा' होती है ।

मुकुल व पंकज मुद्रा—

सम्पुटीकृत्य हस्तौ द्वौ किञ्चित्संकुचिताङ्गुलिः ।।७४।।
मुकुला तु समाख्याता पङ्कजं प्रसृतैव सा ।

दोनो हाथों को सम्पुटित कर अँगुलियाँ थोड़ी संकुचित रखने पर 'मुकुल मुद्रा' कही गई है, वही फैलाने पर 'पंकज मुद्रा' (जानें) ।

आवाहिनी मुद्रा—

उत्तानौ प्रसृतौ हस्तौ कृत्वाङ्गुष्ठौ तु कुञ्चितौ ।।७५।।
मध्यसंस्थो करौ कृत्वा आवाहिन्यास्तु लक्षणम् ।

उत्तान प्रसारित हाथों में अंगूठे कुंचित कर दोनों हथेलियों के मध्य में स्थित करें—यह ''आवाहिनी मुद्रा'' का लक्षण है ।

निष्ठुरा मुद्रा—

अङ्गुष्ठौ कुञ्चितौ द्वौ तु स्वकीयाङ्गुलिवेष्टितौ ।।७६।।
उभौ चाभिमुखौ हस्तौ योजयित्वा तु निष्ठुरा ।

दोनों कुंचित अंगूठे अपनी अंगुलियों से आवेष्टित हों, ऐसे दोनों अभिमुख हाथों के जोड़ने पर "निष्ठुरा मुद्रा" है।

लिंग मुद्रा—

उत्तानं दक्षिणागुष्ठं वामाङ्गुष्ठेन वेष्टयेत् ॥७७॥
दक्षिणाभिस्तथा वामं लिङ्ग मुद्रा प्रकीर्तिता।

उत्तान दाहिने अंगूठे को बाँए अंगूठे से आवेष्टित करें, तथा दाहिने से बाँए को—यह "लिंग मुद्रा" बताई गई है।

विसर्जन मुद्रा—

ऐश्वर्यस्य तु या मुद्रा साङ्गुष्ठां तांतु कारयेत् ॥७८॥
भ्रामयेद्वर्तुलाङ्गुष्ठं मुद्रा प्रोक्ता विसर्जने।

ऐश्वर्य की जो मुद्रा है वह अंगूठे सहित करें, अंगूठा गोलाई से धुमाएँ — यह "विसर्जन मुद्रा" कही है।

भग मुद्रा—

वितस्तिद्वय संयोगाद् भग मुद्रा प्रकीर्तिता ॥७८॥

दो वितस्तियों के सयोग से "भग मुद्रा" बतलाई गई है।

लिंग मुद्रा—

मुष्टिः प्रमार्जिता ज्ञेया लिङ्गमुद्रा तथैव च।

इसी प्रकार प्रमार्जित मुष्टि से "लिंग मुद्रा" जानें।

जीर्ण मुद्रा—

संदष्टे मार्जितावोष्टौ जीर्ण मुद्रा प्रकीर्तिता ॥८०॥

संदष्ट में मार्जित ओठों से "जीर्ण मुद्रा" कही गई है।

प्रसारितौ भुजौकृत्वा भुजाग्रौ कुञ्चितौ तथा।
अग्राग्रौ कुञ्चितार्धेन करपल्लव सन्निभौ ॥८१॥

दोनों भुजाएँ प्रसारित कर, वैसे ही दोनों भुजाग्र कुंचित आगे-आगे से दोनों अर्धकुंचित, कर पल्लव के समान।

कैरिणी मुद्रा—

तर्जनीं कुञ्चितां कृत्वा अङ्गुष्ठोपरि विन्यसेत्।
निकुब्जौ बाहुदण्डौ तु बध्नीयाच्च पृथक्पृथक् ॥८२॥
कैरिणी नाम मुद्रैषा कथिता सूर्य देवता।

तर्जनी कुंचित करके अंगूठे के ऊपर रखें, दोनों बाहुओं को मोड कर अलग-अलग बाँधा जाए—यह "कैरिणी" नाम की मुद्रा कही गई है, देवता सूर्य हैं।

विश्व मुद्रा—

पद्माकारौ करौ कृत्वा संश्लिष्टमध्यमाङ्गुली ।।८३।।
अङ्गुल्या धारयेत्तस्मिन्विश्वमुद्रेति कीर्तिता ।

दोनों हाथ पद्माकार कर, संश्लिष्ट मध्यमा अंगुलियाँ, इसमें तर्जनी से धारण करें—यह "विश्व मुद्रा" कही है।

व्योम मुद्रा—

सम्मुखौ तु करौ कृत्वा संश्लिष्टौ ग्रथिताङ्गुलीः ।।८४।।
कनिष्ठा मध्यमे योज्या तर्जन्यौ मध्यमे तथा ।
हृदि मूर्ध्नि शिखाबन्धे मुद्रेयं व्योम संज्ञिता ।।८५।।

गुंथी हुई अंगुलियों वाले संश्लिष्ट हाथ सम्मुख करके कनिष्ठा मध्यमा में जोड़े तथा दोनों तर्जनियाँ मध्यमा में, हृदय, शिर व शिखाबंध पर—इसे "व्योम मुद्रा" कहा गया है।

अस्त्र मुद्रा—

मुष्टिबन्धोच्छ्रितां कृत्वा मध्यहस्तस्य तर्जनीम् ।
ताल शब्द कृताऽसौ तु मुद्रा चास्त्रस्य कीर्तिता ।।८६।।

मुष्टि बन्ध उच्छ्रित करके मध्य हस्त की तर्जनी को ताल शब्द करने पर यह अस्त्र की मुद्रा बताई गई है।

नेत्र प्रदर्शिता मुद्रा—

मध्यमा तर्जनी चैव सव्यहस्तस्य चोच्छ्रिते ।
कनिष्ठानामिके कुब्जे साङ्गुष्ठेनैव संज्ञिता ।।८७।।
नेत्र प्रदर्शिता ज्ञेया गोवृषागमने तथा ।

दाहिने हाथ की मध्यमा और तर्जनी उच्छ्रित करने पर, अंगूठे सहित कनिष्ठा व अनामिका मोड़ने पर 'नेत्र प्रदर्शिता मुद्रा" कही गई है, इसे गो-वृष के आने पर भी जानें।

शक्ति मुद्रा —

उत्तानौ तु करौ कृत्वा सर्वाङ्गुल्यो विकुञ्चिताः ।।८८।।

कृत्वा चोपरिचाङ्गुष्ठं चालयेत् पुनः पुनः।
सर्वासामेवशक्तीनां मुद्रैषा सम्प्रकीर्तिता ॥८६॥

दोनों हाथ उत्तान करके सभी अंगुलियाँ कुंचित और ऊपर अंगूठा करके बार-बार चलाएँ—यह सभी शक्तियों की मुद्रा बताई गई है।

दीप्ता सूक्ष्मा जया भद्रा विभूति विमला तथा।
अमोघा विद्युता चैव नवमी सर्वतोमुखी ॥६०॥
इति नामानि शक्तीनां सरहस्यानि निर्दिशेत्।

दीप्ता, सूक्ष्मा, जया, भद्रा, विभूति, विमला, अमोघा, विद्युता और नवीं सर्वतोमुखी—इन नामों वाली शक्तियों को रहस्यों सहित निर्देशित करें।

रवि-सान्निध्य कारिणी मुद्रा—

सम्मुखौ तु करौ कृत्वा श्लिष्टौ चैव प्रसारितौ ॥६१॥
इयं मुद्रा नमस्कारे रविसान्निध्यकारिणी।

दोनों श्लिष्ट व प्रसारित हाथों को सम्मुख करें—यह नमस्कार में "रवि-सान्निध्यकारिणी" मुद्रा है।

नवग्रहों की मुद्राएँ—

अनामिकयाः सन्दंशो रविमुद्रा प्रकीर्तिता ॥६२॥
सोममुद्रा मध्यमया भौम मुद्रा ह्यनामया।
कनीयस्या बुधे मुद्रा तन्मूले जीव संज्ञिता ॥६३॥
अनामिका मूलगा तु शुक्रमुद्रा प्रकीर्तिता।
मध्यमा मूलगाङ्गुष्ठे शनिमुद्रा प्रकीर्तिता ॥६४॥
तर्जनी मूलाङ्गुष्ठे राहुमुद्रा प्रकीर्तिता।
तर्जनी चलनाज्ज्ञेया केतु मुद्रा नराधिप ॥६५॥

अनामिका से (अंगूठे का) संदंश होने पर 'रविमुद्रा' कही गई है। (इसी प्रकार) मध्यमा से सोम (चन्द्र) मुद्रा, अनामिका से ही 'भौम' (मंगल) मुद्रा, कनिष्ठा से 'बुध मुद्रा', उसके मूल में 'जीव' (बृहस्पति) कही गई है। अनामिका के मूल में जाने से 'शुक्र मुद्रा' कही है। मध्यमा के मूल में अंगूठा जाने पर 'शनि मुद्रा' कही गई है। तर्जनी के मूल में अंगूठा जाने पर 'राहु मुद्रा' बताई गई हैं। हे नराधिप! तर्जनी के चलने से 'केतु मुद्रा' जानें।

क्रोध मुद्रा—

वामहस्तेन शिखरा: क्रोधमुद्रा प्रकीर्तिता ।

बाँए हाथ से शिखर द्वारा 'क्रोध मुद्रा' बताई है ।

वराह मुद्रा—

सम्पुटौ तु करौ कृत्वा वामोच्छ्रायां नराधिप ॥९६॥
एषा वराह मुद्रातु सर्वकर्मकरी शुभा ।

हे नराधिप ! दोनों हाथ सम्पुटित कर बाँए को उच्छ्रित करने से यह सर्वकर्मकरी शुभा 'वराह मुद्रा' जानें ।

भैरवी मुद्रा—

वामेन वेष्टितौ हस्तौ दक्षिणे भैरवी भवेत् ॥९७॥

बाँए से दाहिने आवेष्टित दोनों हाथों से "भैरवी" होती है ।

पाताल भंजिनी मुद्रा—

हस्तावधोमुखौ यत्र दृष्टिश्चाधस्तथा भवेत् ।
पातालभञ्जिनी नाम मुद्रैषा कथिता नृप ॥९८॥

जहाँ दोनों हाथ अधोमुख तथा दृष्टि भी अधः होती है, हे नृप ! वह 'पाताल भंजिनी मुद्रा' कही गई है ।

स्तम्भनी मुद्रा—

कपित्थेऽनामिका दीर्घा स्तम्भनी तु निगद्यते ।

कपित्थ में अनामिका लम्बी करने से 'स्तम्भनी मुद्रा' कही जाती है ।

क्रोधिनी मुद्रा—

करमध्यात्तु संग्राह्यमिवमध्येन चाहतम् ॥९९॥
एवमध्येन संयुक्ता क्रोधिनी परिकीर्तिता ।

कर मध्य से संग्राह्य, इव मध्य से आहत और एवमध्य से संयुक्त 'क्रोधिनी मुद्रा' कही गई है ।

बीज मुद्रा—

सहमध्या तु संग्राह्या खत मध्ये द्विधाहतम् ॥१००॥
एवमध्येन संयुक्ता बीजमुद्रा प्रकीतिता ।

सह मध्य से संग्राह्या, खत में द्विधाहत, एवमध्य से संयुक्त "बीज मुद्रा" कही गई है ।

भैरवी मुद्रा—

एवमध्येन संयुक्ता भैरवीचापरा भवेत् ।।१०१।।

एवमध्य से संयुक्त दूसरी 'भैरवी मुद्रा' होती है ।

स्तम्भनी मुद्रा—

क्षत्रमध्या तु संग्राह्या ईरमध्येन संयुता ।
एवमध्येन चाक्रान्तं स्तम्भनी चापरा भवेत् ।।१०२।।

क्षत्रमध्य से संग्राह्या, ईरमध्या से संयुता, एव मध्य से आक्रान्त दूसरी 'स्तम्भनी मुद्रा' होती है ।

वाराही मुद्रा—

लसमध्यातु संग्राह्या चैक मध्येन चाहता ।
एवमध्येन संयुक्ता वाराही चापरा भवेत् ।।१०३।।

लसमध्या से संग्राह्या, एकमध्य से आहत और एवमध्य से संयुक्ता दूसरी 'वाराही मुद्रा' होती है ।

पाताल भंजनी मुद्रा—

जनमध्येन संग्राह्य मेवमध्येन चाहतम् ।
पातालभञ्जनी नाम मुद्रेयमपरा भवेत् ।।१०४।।

जनमध्य से संग्राह्य, एवमध्य से आहत—यह दूसरी 'पाताल भंजनी' नामक मुद्रा होती है ।

शंख मुद्रा—

तर्जनी मध्यमा चैव तथा चैव त्वनामिकाम् ।
मध्यमपर्वसु संयुक्ताः पृष्ठतः कारयेत्करे ।।१०५।।
शंखमुद्रेय मुद्दिष्टा पूर्वमुक्ता तथापरा ।

हाथ में तर्जनी, मध्यमा व अनामिका बीच के पौरुए से जुड़ी हुई पीछे की ओर करें—यह दूसरी 'शंख मुद्रा' बताई गई है ।

चक्र मुद्रा—

प्रसार्य सर्वाश्चाङ्गुल्यः करपृष्ठे च योजयेत् ।।१०६।।
चक्र मुद्रा भवत्येषा पूर्वमुक्ता तथापरा ।

सभी अंगुलियों को फैला कर कर-पृष्ठ में जोड़े, यह पहले कही हुई से अन्य 'चक्र मुद्रा' होती है।

सुषिरा मुद्रा—

कटिभाग प्रदेशे तु मुष्टिस्तु सुषिरा भवेत् ॥१०७॥

कटि भाग प्रदेश में मुष्टि से 'सुषिरा मुद्रा' होती है।

गदा मुद्रा—

गदा मुद्रा भवत्येषा सर्वविघ्नप्रणाशिनी।

यह सभी विघ्नों का नाश करने वाली 'गदा मुद्रा' होती है।

कौस्तुभ मुद्रा—

अन्योन्याभिमुखौ कृत्वा करौ संवेष्टिताङ्गुली ॥१०८॥
सहाङ्गुष्ठेन निर्दिष्टा मुद्रा कौस्तुभसंज्ञिता।

दोनों हाथ एक-दूसरे के सामने कर अंगूठे सहित संवेष्टित अंगुलियों से निर्दिष्ट ''कौस्तुभ'' नामक मुद्रा है।

वनमाला मुद्रा—

संस्पृश्य वह्निशिखरं वामदक्षिणकं स्पृशेत् ॥१०९॥
इयं मुद्रा विनिर्दिष्टा वनमालेति पार्थिव।

तर्जनी की नोक को छू कर बाँए से दाहिने को छुएँ, हे पार्थिव! यह 'वनमाला मुद्रा' बताई गई है।

अनामी नाशने द्रव्ये स्रजं द्रव्यकरद्वये ॥११०॥

द्रव्यनाश में अनामिका, दोनों हाथों से द्रव्य सृजन।

नारसिंही महामुद्रा—

जङ्घामध्यगते कृत्वा चिबुकेऽर्धसमायुते।
मुखं विवृतकं कुर्याज्ज्वलाज्जिह्वा तु लेलिहा ॥१११॥
एषा मुद्रा महामुद्रा नारसिंहीति कीर्तिता।

जंघा मध्य गत करके, अर्ध समायुत चिबुक, विवृतक मुख करें, लपलपाती ज्वलत् जिह्वा—यह ''नारसिंही महा मुद्रा'' कही गई है।

हृद मुद्रा—

अङ्गुष्ठं मुष्टिना ग्राह्यं हृन्मुद्रा परिकीर्तिता ॥११२॥

अंगूठा मुष्टि से पकड़ कर ''हृद मुद्रा'' बताई गई है।

शिक्षा मुद्रा—

मुष्टि वध्वैव चाङ्गुष्ठे तिर्यग्गं कारयेच्छिरः ।
स्पृष्टातु तर्जनी मुष्टौ शिक्षा मुद्रा प्रकीर्तिता ।।११३।।

अंगूठे पर मुष्टि बाँध कर सिर तिरछे गया हुआ करें, दोनों मुष्टि से तर्जनी छूते हुए रखें—यह 'शिक्षा मुद्रा' कही गई है ।

कवच मुद्रा—

तर्जनी प्रान्तसंलग्ने द्वे मुष्टी कवचं भवेत् ।

तर्जनी प्रदेश से लगी हुई दो मुष्टियों से कवच होता है ।

गदा मुद्रा—

मुष्टी बध्वा तु हस्तौ द्वे उभयाङ्गुलियोजितौ ।।११४।।
गदामुद्रा समाख्याता सर्वकर्मकरी शुभा ।

दोनों हाथों की अंगुलियाँ मिलाकर मुष्टी बाँधने पर सर्व कर्मकरी शुभा ''गदा मुद्रा'' कही गई है ।

नेत्र मुद्रा—

तर्जनी तु तथाङ्गुष्ठं प्रान्तश्लिष्टौ तु कारयेत् ।।११५।।
शेषाः प्रसारिताङ्गुल्या नेत्र मुद्रा भवेन्नृप ।

हे नृप ! तर्जनी और अंगूठा किनार से मिला हुआ करें, शेष अंगुलियाँ फैली होने पर 'नेत्र मुद्रा' होती है ।

अश्व शिर मुद्रा—

अनाम्यौ वलिनौ कृत्वा तर्जनीभ्यां समं श्रयात् ।।११६।।
मध्यमौ चोन्नतौ कृत्वा अङ्गुष्ठौ श्लेषितौ समौ ।
एषा मुद्रा समाख्याता दिव्याश्वशिरसो नृप ।।११७।।

दोनों अनामिका वलित करके, दोनों तर्जनियों से समाश्रित, दोनों मक्ष्यमा उन्नत करके, दोनों अंगूठे सम-आश्लेषित रखें—हे नृप ! यह दिव्य 'अश्व शिर मुद्रा' कही गई है ।

प्रमदा मुद्रा—

अञ्जलिः प्रमदा मुद्रा क्षिप्रं देव प्रसारिता ।
वन्दने हृदयासक्तां पूर्वदक्षिणतोऽपरा ।।११८।।

हे देव ! तेजी से प्रसारित अंजली से हृदयासक्तों की वन्दना में (की जाने वाली) 'प्रमदा मुद्रा' जानें जो पहले कही गई दाहिनी से अन्य है ।

वासुदेव मुद्रा—

ऊर्ध्वोऽङ्गुष्ठो वाममुष्टिर्दक्षिणोऽङ्गुष्ठबन्धनः ।
सन्यस्य तस्य चाङ्गुष्ठौ यस्या ऊर्ध्वं प्रतिष्ठिता ॥११६॥
वासुदेवस्य मुद्रैषा बद्ध्वा स्यात्पापनाशिनी ।

ऊर्ध्व अँगुष्ठ वाममुष्टि, दाहिना अंगुष्ठ-बन्धन सन्यस्त कर और उसके दोनों अँगूठे जिसके ऊपर प्रतिष्ठित हैं—'वासुदेव' की यह मुद्रा बँधने पर पापनाशिनी होती है ।

संकर्षण मुद्रा—

हस्तयोरुभयोरेव कनीयाङ्गुष्ठगर्भकौ ॥१२०॥
शेषाः प्रसारिताः श्लिष्टा मुद्रा सङ्कर्षणस्य तु ।

दोनों हाथों की कनिष्ठा व अनामिका अन्दर गई हुई, शेष मिली व फैली हुई—यह 'संकर्षण' की मुद्रा है ।

प्रद्युम्न मुद्रा—

तर्जन्यावूर्ध्वतः श्लिष्टौ समाङ्गुष्ठौ तु श्लेषितौ ॥१२१॥
एषा मुष्टि ततः कृत्वा मुद्रा प्रद्युम्न संज्ञिका ।

दोनों तर्जनी ऊपर से मिली हुई, दोनों अँगूठे भी समान रूप से मिले हुए, तब इसमें मुष्टि करने से 'प्रद्युम्न' नामक मुद्रा होती है ।

अनिरुद्ध मुद्रा—

अङ्गुल्यौ वलितौ यत्र सूर्पाकारौ तु कारयेत् ॥१२२॥
वेष्ट्याङ्गुष्ठावधः कार्यावनिरुद्धे तु कारयेत् ।

जहाँ दोनों तर्जनी सूर्पाकार वलित करें, दोनों अँगूठे नीचे आवेष्टित करें— वह मुद्रा 'अनिरुद्ध' में करें ।

इत्युद्देशेन ते प्रोक्ता मुद्रा हस्ता मया नृप ॥१२३॥
दर्शयेन्मन्त्रयुक्तानां परां सिद्धिमभीप्सिताम् ।
यथामन्त्रं यथादेवं यथाविधिरतन्द्रितः ॥१२४॥

हे नृप ! ये मुद्रा-हस्त मेरे द्वारा संकेतपूर्वक तुम्हें कहे गए। परा सिद्धि की इच्छा रखने वाले मंत्रयुक्त जनों को यथामंत्र, यथादेव, यथाविधि आलस्य-हीन होकर दिखाएँ।

मन्त्रेषु देवतायुक्ता बह्व्यो मुद्राः प्रकीर्तिताः।
तासां मन्त्रं तु विज्ञेयं नियोगो नृप इष्यते ।।१२५।।

मंत्रों में देवता-युक्त बहुत मुद्राएँ बताई गई हैं, हे नृप ! उनकी मंत्र में प्रयोग विधि जानने की इच्छा करनी चाहिए।

एतावदुक्तं नृप नृत्तशास्त्रं
समासतः पार्थिववंशमुख्य।
निःशेषमेतद्गदितं महार्थं
विस्तारतस्सर्वजगत्प्रधानम् ।।१२६।।

हे नृप ! यहाँ तक संक्षेप में नृत्त शास्त्र कहा। हे पार्थिववंश मुख्य ! सर्व जगत् प्रधान (परमात्मा) ने ही महान अर्थ वाले इसको विस्तार से निःशेष कहा है।

।। इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्र संवादे नृत्तशास्त्रे मुद्राध्यायो नाम ।।३३।।

•

पञ्चदश अध्याय

(नृत्योत्पत्ति कथा)

वज्रः—

नृत्तमुत्पादितं केन ऋषिणा दैवतेन वा ।
एतन्मे संशयं छिन्धि त्वं हि सर्वविदुच्यसे ॥१॥

नृत्त किसके द्वारा उत्पादित है—ऋषि द्वारा या देवता द्वारा ? मेरे इस संशय का छेदन करें, (क्योंकि) आप सर्वविद् कहे जाते हैं ।[७१]

मार्कण्डेयः—

एकार्णवे पुरा लोके नष्टस्थावरजङ्गमे ।
शेष-पर्यङ्क-शयने सुप्ते च मधुसूदने ॥२॥

एक बार पुराने समय में स्थावर-जंगम सहित समस्त लोक के सागर में नष्ट होने पर और मधुसूदन विष्णु के शेष-शैया पर सोने पर ।

संवाह्यमानचरणे लक्ष्म्या यदुकुलोद्वह ।
नाभ्यां तस्य समुत्पन्नं पद्म पद्मनिभेक्षण ॥३॥

हे यदुकुलोद्वह ! लक्ष्मी द्वारा चरण-संवहन करने पर, हे पद्मनिभेक्षण ! उनकी नाभि से कमल उत्पन्न हुआ ।

तत्र जातः स्वयं ब्रह्मा देवः शुभ चतुर्मुखः ।
देवैः सह महाभाग सशरीरैर्नराधिप ॥४॥

हे महाभाग नराधिप ! उस (कमल) में शुभ चतुर्मुख देव ब्रह्माजी (अन्य) देवताओं सहित सशरीर उत्पन्न हुए ।

पद्मोद बिन्दु सम्भूतौ तत्रैव मधुकैटभौ ।
रजस्तमोमयौ घोरौ दानवौ तौ भयानकौ ॥५॥

वहीं पद्मोद बिन्दु से रात्रि के अन्धकार के समान घोर भयानक मधु-कैटभ दानव उत्पन्न हुए ।

ततो जगृतुर्वेदान् ब्रह्मणस्तौ नराधिप ।
हृतवेदस्ततो ब्रह्मा तुष्टाव मधुसूदनम् ॥६॥

हे नराधिप ! तब उन दोनों ने ब्रह्मा से वेदों को छीन लिया। वेद छिने हुए ब्रह्मा ने तब विष्णु को प्रसन्न किया।

वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा मे परमं बलम्।
दानवाभ्यां हृता वेदा अन्धो जातोऽस्मि शत्रुहन् ।।७।।

वेद मेरे परम नेत्र हैं, वेद मेरा परम बल है। हे शत्रुहन्ता ! दानवों द्वारा वेद हर लेने से मैं अंधा हो गया हूँ।

एवमुक्तस्तदा विष्णुर्ब्रह्मणा पुरुषोत्तमः।
उत्थाय सलिलात्तस्मा द्बभ्राम सलिलाशये ।।८।।

तब ब्रह्मा द्वारा ऐसा कहने पर पुरुषोत्तम विष्णु उस जल में से उठ कर जलाशय में घूमने लगे।

अङ्गहारैः सुललितैस्तथा पदपरिक्रमैः।
तथा भ्रमन्तं तं देवं ददर्शायतलोचनम् ।।९।।
अतीव ललितं लक्ष्मीर्जातरागाविशेषत.।
देवोऽप्यश्वशिरो भूत्वा पातालतलगः क्षणात् ।।१०।।

सुललित अंगहारों तथा पद-परिक्रमो से घूमते हुए अतीव ललित आयत-लोचन उन देव को देख कर लक्ष्मी में विशेष रूप से राग उत्पन्न हुआ। देव भी क्षण भर में ही अश्वशिर होकर पाताल तल में चले गए।

स दैत्यान् दृष्टवान् वेदाँस्त्यक्त्वाश्वशिरसस्तनुम्।
जघान तौ महाकायौ दानवौ मधुकैटभौ ।।११।।
हत्वा वेदसहायस्तु सम्प्राप्तो ब्रह्मणोऽन्तिकम्।
ददौ वेदान्स्ततस्तस्मै देवदेवः स्वयंभुवे ।।१२।।

वे दैत्य उन्हें देख कर वेदों को त्याग कर उस अश्वशिर के शरीर को पकड़ने लपके। उन दोनो महाकाय दानवों मधु-कैटभ को मार कर देवदेव विष्णु वेदों सहित ब्रह्मा के पास आए और उन ने स्वयंभू ब्रह्मा को वेद प्रदान किये।

दत्त्वा वेदाँस्ततः प्राह सृष्टिं कुरुपितामह।
वेद प्रामाण्यतो ब्रह्मा सर्गं चक्रे ततः प्रभुः ।।१३।।

तब वेदों को देकर कहा—'पितामह सृष्टि कीजिए।' तब प्रभु ब्रह्मा ने वेद के प्रमाण से सृष्टि रचना की।

शेषाङ्कगतं देवं लक्ष्मीः पप्रच्छ पार्थिव।

हे पार्थिव ! शेषांक में गए हुए देव से लक्ष्मी ने पूछा—

लक्ष्म्युवाच -

देवदेव जगन्नाथ शङ्खचक्रगदाधर ।।१४।।
परिक्रमन्मया तोये दृष्टः सलिलतः प्रभो।
अतीव रमणीयाङ्गं किं तत्प्रब्रूहि मे प्रभो ।।१५।।

हे देवदेव ! हे जगन्नाथ ! हे शंखचक्रगदाधर ! हे प्रभो ! जल में परिक्रमा करते हुए (आपके) सललित अतीव रमणीय अंगों को मैंने देखा है। वह क्या है ? हे प्रभा ! मुझे कहिए।

श्रीभगवानुवाच

नृत्तमुत्पादितं ह्येतन्मया पद्मनिभेक्षणे।
अङ्गहारैः सकरणैः संयुक्तं सपरिक्रमैः ।।१६।।

हे पद्मनिभेक्षणे ! यह मेरे द्वारा अंगहार, करण व परिक्रमण से संयुक्त नृत्त उत्पादित किया गया है।

नृत्तेनाराधयिष्यन्ति भक्तिमन्तस्तु मां शुभे।
त्रैलोकस्यानुकरणं नृत्तं देवि प्रतिष्ठितम् ।।१७।।

हे शुभे ! भक्तिमन्त नृत से मेरा आराधन करेंगे। हे देवि ! त्रैलोक्य का अनुकरण नृत्त मे प्रतिष्ठित है।

मार्कण्डेय—

एतावदुक्त्यातां देवो ब्रह्माण वाक्यमब्रवीत्।

उनको इतना कह कर देव ने ब्रह्मा को वाक्य कहा—

श्री भगवानुवाच—

गृहाण नृत्तं धर्मज्ञ लक्ष्यलक्षण संयुतम् ।।१८।।

हे धर्मज्ञ ! इस लक्ष्य एवं लक्षणों से संयुक्त नृत्त को ग्रहण करो।'

मार्कण्डेय—

एतावदुक्त्या ब्रह्माणं ग्राहायामास केशवः।
तं गृहीत्वा ततो ब्रह्मा ददौ रुद्राय वेधसे ।।१९।।

केशव ने इतना कह कर ब्रह्मा को (नृत्य) ग्रहण करवाया। तब उसे। ग्रहण कर ब्रह्मा ने विधाता रुद्र को दे दिया।

गृहीत्वा तच्च रुद्रोऽपि तोषयामास केशवम्।
तेन नृत्तेन सततं देवेशं भक्तवत्सलम् ॥२०॥

रुद्र ने उसे ग्रहण कर उस नृत्त से देवेश भक्त वत्सल केशव को सतत प्रसन्न किया।

एव मुत्पादितं नृत्तं वासुदेवेन पार्थिव।
एकार्णवे पुरालोके नष्ट-स्थावर-जङ्गमे ॥२१॥

हे पार्थिव! इस प्रकार पहले एक बार स्थावर-जंगम सहित समस्त लोक के सागर में नष्ट हो जाने पर यह नृत्य वासुदेव द्वारा उत्पादित हुआ।

ततः प्रभृति देवेशः शङ्करः शङ्करो नृणाम्।
नृत्तेनाराधयन्नास्ते देवं चक्र गदाधरम् ॥२२॥

तब से बहुत से देवताओं सहित मनुष्यों का कल्याण करने वाले देवेश शंकर नृत्त से ही चक्र-गदा-धर देव विष्णु का आराधन करते हैं।

नृत्तेश्वरत्वं चावाप तुष्टाव मधुसूदनम्।
सोऽपि तुष्यति नृत्तेन सम्यगाराधितो हरः ॥२३॥

(शिव ने) मधुसूदन को प्रसन्न कर नृत्तेश्वरत्व प्राप्त किया। वे हर भी नृत्त से सम्यक् आराधित होने पर प्रसन्न होते हैं।

अन्येऽपि देवास्तुष्यन्ति सम्यङ् नृत्तेन तोषिताः।
आप्यायनं परं ह्येतत्कथितं तु दिवौकसाम् ॥२४॥

अन्य देवता भी नृत्त द्वारा प्रसन्न किये जाने पर तुष्ट होते हैं। देवताओं को परम आप्यायित करने वाला यह कहा गया है।

एतदेव हि देवत्वं दीव्यतां सततं दिवि।
पुष्प नैवेद्य दानेभ्यो नृत्तदानं विशिष्यते ॥२५॥

इससे ही स्वर्ग में सतत देवत्व और दिव्यता है। पुष्प-नैवेद्य आदि के दान से नृत्त-दान बढ़ कर है।

स्वयं नृत्तेन यः कुर्याद् देवदेवस्य पूजनम् ।
विशेषेण महाभाग तस्य तुष्यति केशवः ॥२६॥

जो स्वयं नृत्त से देव देव विष्णु का पूजन करता है, हे महाभाग ! उसके पूजन से केशव विशेष रूप से प्रसन्न होते हैं ।

नृत्तं गीतं तथा वाद्यं दत्त्वा देवाय विष्णवे ।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ॥२७॥

नृत्त, गीत तथा वाद्य विष्णु देव के लिए देकर सर्व काम समृद्ध यज्ञ का फल प्राप्त करते हैं ।

नृत्तेन वृत्तिं यः कुर्यात्स तु वर्ज्यः प्रयत्नतः ।
कुशीलवाद्यैर्यः कुर्यान्नृत्तविक्रयकारकाः ॥२८॥

नृत्त से जो वृत्ति (पेशा) करते हैं वह प्रयत्न पूर्वक मना किया जाए । कुशीलव (कथक) आदि जो ऐसा करते हैं वे नृत्त के बेचने वाले हैं ।

देवताराधनं कुर्याद्यस्तु नृत्तेन धर्मवित् ।
स सर्वकामानाप्नोति मोक्षोपायं च विदन्ति ॥२९॥

हे धर्मवित् ! जो नृत्त से देवताओं का आराधन करता है वह सभी इच्छित वस्तुओं को पा जाता है और मोक्ष के उपाय को खोज लेता है ।

धन्यं यशमायुष्यं स्वर्गलोक प्रदं तथा ।
ईश्वराणां विलासं तदार्तानां दुःखनाशनम् ॥३०॥

धन्य यश, आयुष्य तथा स्वर्गलोक को देने वाला, देवताओं का विलास व आर्तजनों का दुःख नाश करने वाला है ।

मूढानामुपदेशं तत्स्त्रीणां सौभाग्यवर्धनम् ।
शान्तिकं पौष्टिकं काम्यं वासुदेवेन निर्मितम् ॥३१॥

मूर्खों को उपदेश देने वाला, स्त्रियों का सौभाग्य वर्द्धक, शान्तिक, पौष्टिक, काम्य व वासुदेव निर्मित है ।

एतत्तदुक्तं तव नृत्तशास्त्रं
समासतो लोकहिताय राजन् ।
नृत्तेन यत्नः पुरुषेण कार्यो
लोकद्वयं जेतुमभीप्सिता वै ॥३२॥

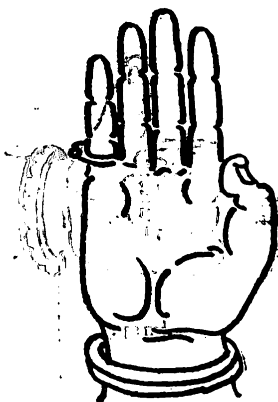
हे राजन् ! लोक-कल्याण के लिए यह नृत्त-शास्त्र संक्षेप में तुम्हें कहा। दोनों लोकों को जीतने की इच्छा रखने वाले पुरुष नृत्त द्वारा यत्न करें।

॥ इति श्री विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेय-वज्रसंवादे नृत्तसूत्रं नाम ।३४।

परिशिष्ट–क

नृत्तसूत्रम् में वर्णित हस्ताभिनय

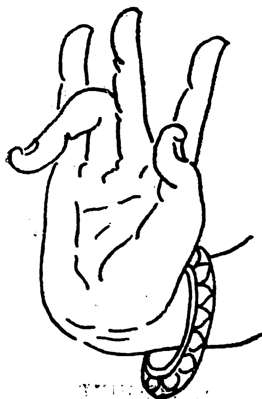
असंयुत हस्त



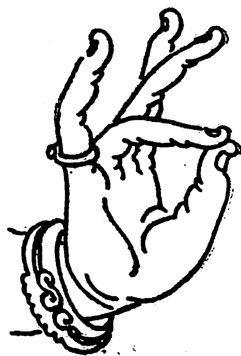
१. पताक



२. त्रिपताक



३. कर्तरीमुख



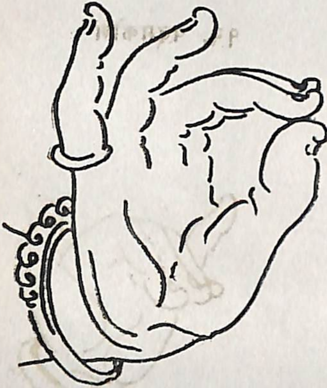
४. अर्धचन्द्र



१७. चतुर



१८. भ्रमर



१९. हंसास्य



२०. हंसपक्ष

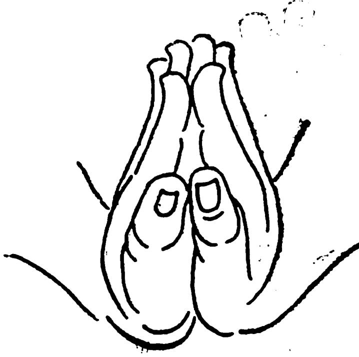


२१. संदंश



२२ मुकुल

संयुत हस्त



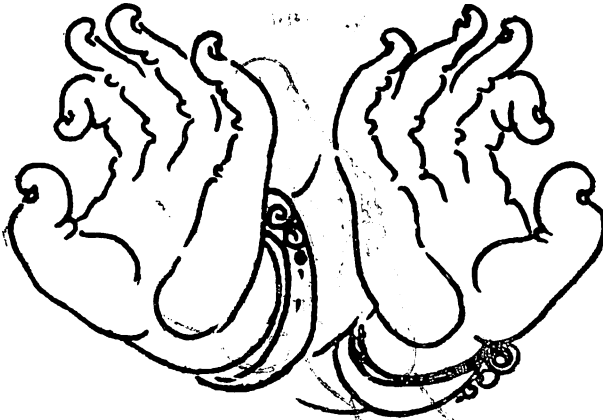
१. अंजली



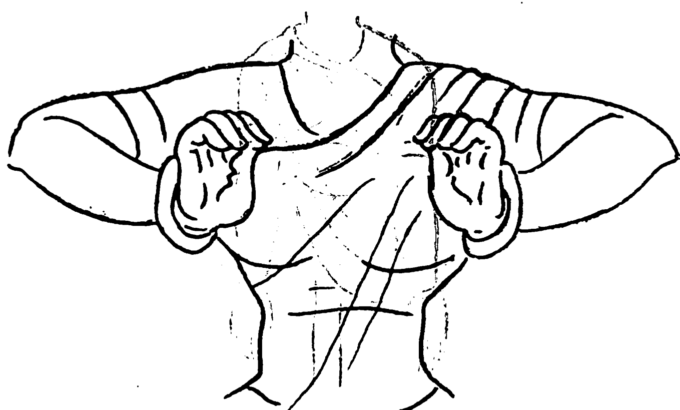
२. कपोत

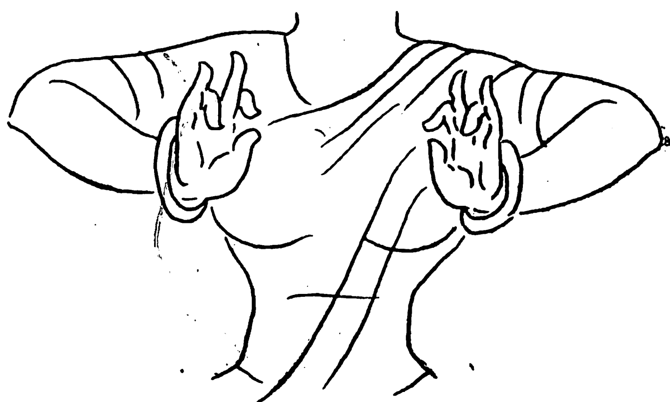


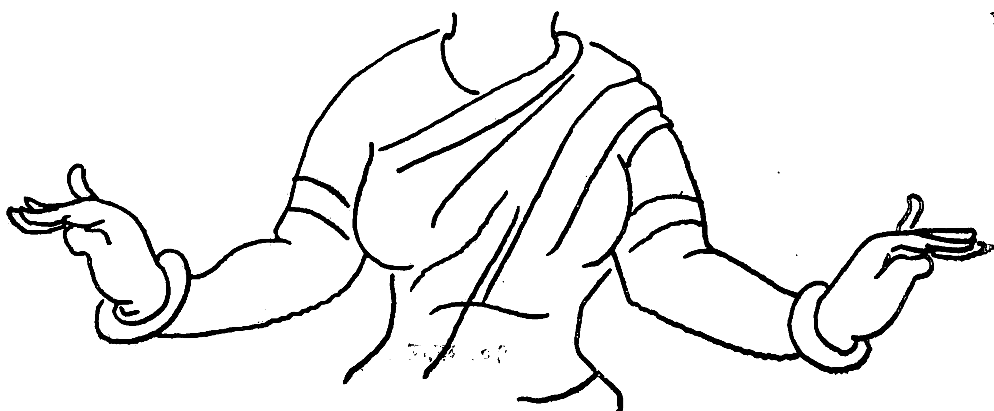
३. कर्कट



४. स्वस्तिक







परिशिष्ट-ख

टिप्पणियाँ

(१) परस्यानुकृतिर्नाट्यम्—

यद्यपि भरत मुनि ने 'नाटय' शब्द को अत्यन्त व्यापक रूप में ग्रहण किया है किन्तु प्रायः समस्त मध्यकालीन ग्रंथकारों ने तथा पाश्चात्य विद्वानों ने भी अनुकरण को ही नाट्य माना है। उसी परम्परा का निर्वाह यहाँ भी नाट्य के लक्षण में किया गया है किन्तु इस श्लोक का उत्तर पद "तस्य संस्कारकं नृत्तं" अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, नृत्यकला के गौरव की वृद्धि करने वाला तथा लक्षण-ग्रंथों की परम्परा में विरल है, जो भारतीय अभिनय-विधि की मूल प्रकृति की ओर संकेतित करता है। पाश्चात्य अभिनय कला का रुझान सदैव यथार्थवाद की ओर रहा है किन्तु भारतीय रंगकर्मी कला रूपों में यथार्थ (Realism) की सीमाओं के प्रति पूरी तरह सावधान थे और इसी कारण वे आंगिक क्रियाओ को नृत्य के बहुत निकट ले आए थे। यह आवश्यक था कि जब मंच पर हलन-चलन किसी संवाद के साथ या मौन हो तब अभिनेतागण अपना समस्त अंग-संचालन लयात्मक रखें ताकि उनके आकार-प्रकार से सौंदर्य व लालित्य व्यञ्जित हो सके। जिस प्रकार प्राकृत भाषाओं को संस्कारित कर संस्कृत भाषा निर्मित हुई है उसी प्रकार नाट्य के नैसर्गिक या स्वाभाविक अभिनयन को संस्कारित कर उसकी शोभा-वृद्धि करने वाला तत्त्व नृत्त है। भरत मुनि ने भी नाट्यशास्त्र (४/२६५-६६) में यही कहा है कि—यह ठीक है कि नृत्त किसी अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति की उपयोगिता से रहित है किन्तु इसे शोभा की सृष्टि हेतु नाट्य-प्रयोग में संयोजित किया जाता है; क्योंकि प्रायः सभी लोगों को स्वभाव से ही नृत्त इष्ट होता है।

अत्रोच्यते न खल्वर्थं कञ्चिन्नृत्तमपेक्षते।
किं तु शोभा प्रजनयेदिति नृत्तं प्रवर्तितम्॥
प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः।

(२) नृत्तं तु द्विविधं प्रोक्तं—

यहाँ नृत्त के जो दो भेद ताण्डव व लास्य बताये गये हैं वे तो सर्वविदित

ही हैं, किन्तु इन्हीं दोनों को क्रमशः आभ्यंतर व बाह्य कहना स्वतः में आश्चर्य-जनक है। एक तो ऐसा भूलवश भी हो सकता है; क्योंकि ऐसी भूल मध्यकालीन ग्रंथकारों ने प्रायः की है और उनकी ओर आधुनिक शोधकर्ताओं ने संकेतित भी किया है। प्रस्तुत प्रसंग में ऐसी संभावना का आधार भी है। भरत मुनि ने "सामान्याभिनय" के अन्तर्गत सत्त्व, अंग तथा वाणी के पृथक्-पृथक् अभिनय भेदों का निरूपण करने के उपरान्त "नाट्य प्रयोग" के दो भेदों का विवेचन किया है—आभ्यन्तर और बाह्य (दृष्टव्य-नाट्यशास्त्र २२/७३-८०)। इनके जो लक्षण भरत मुनि ने विस्तार से बतलाए हैं उन्हें ही मार्कण्डेय ने संक्षेप में यहाँ कहा है। अतः यह कहा जा सकता है कि नाट्य-प्रयोग के भरतोक्त भेदों को ही यहाँ नृत्त-भेद के रूप में उपस्थापित कर दिया गया है। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि विष्णु धर्मोत्तर की विभिन्न पाण्डुलिपियों में "ताण्डव" के स्थान पर "नाट्य" पाठ ही प्रमुखता से मिलता है। अतः नाट्य के प्रसंग में उसके प्रयोगगत दो भेदों का निरूपण भी स्वाभाविक है। नाट्य के विषय में ही भरत मुनि ने शास्त्र-ग्रंथ की रचना की है, जिसे वेद के समकक्ष मान्यता प्राप्त है। अतः नाटय तो लक्षणवत् और मंगल्य है ही, शिवजी से उद्भूत ताण्डव की वर्णना भी नाट्यशास्त्र में है अतः वह भी लक्षणवत् तथा मंगल है। मार्कण्डेय ने ताण्डव और नाट्य को एक मान लिया है तथा उन्हें "आभ्यन्तर" कह कर सम्बोधित किया है, यही उनकी चूक है। ऐसी स्थिति में लास्य को "बाह्य" कहना उनकी विवशता थी। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मध्ययुगीन ग्रंथकारों ने जिस प्रकार ताण्डव को शिव से उद्भूत माना है वैसे ही लास्य को पार्वती से। भगवती पार्वती से उद्भूत नृत्त लास्य लक्षणहीन कैसे हो सकता है? इस प्रसंग में जब हम नाट्यशास्त्र की ओर निहारते हैं तब हम पाते हैं कि वहाँ "दशरूप विधान" शीर्षक २० वें अध्याय में तथा आगे ३१ वें अध्याय में भी १० प्रकार के लास्यांगों का वर्णन तो है किन्तु लास्य नृत्त का नहीं। हाँ चतुर्थ अध्याय में ताण्डव विधि के प्रसंग में केवल इतना उल्लेख मिलता है कि 'रेचक व अंगहारों से युक्त शिव को नृत्य करते देखकर पार्वती ने भी सुकुमार प्रयोगों से युक्त नृत्त किया (ना० शा० ४/२५१)।" किन्तु इस नृत्त का कोई नाम नहीं दिया गया है और न लक्षण ही बताये गये हैं। अब जब हम दशविध लास्यांगों की ओर निहारते हैं तब हम देखते हैं कि इनमें एक ही नर्तकी गीत-नृत्तादि के साथ व्यत्किंचित् अभिनय द्वारा भावाभि-व्यक्ति कर रही होती है। इससे ऐसा लगता है कि 'लास्यांग' मूलतः लोक नाट्य (देसी) परम्परा है, जिसे भरत ने अपने शास्त्रीय प्रयोग मे स्थान दिया

है। लास्य अपने स्वभाव से नृत्त है और नृत्त को मध्ययुगीन ग्रंथकारों ने "देसी" अर्थात् आज की भाषा में लोकनृत्य माना है (दृष्टव्य "आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ।"—दशरूपक, १/९) और इसी कारण सबने इसे एक स्वर से अधम श्रेणी प्रदान की है (देखिए—भरत कोश में उद्धृत राणा कुम्भा, विप्रदास आदि के मत, पृ० ८७५ व ३४०)। इस प्रकार मार्कण्डेय के समक्ष नाट्य की वर्णना के उपरान्त जो अवशिष्ट रहा था वह था नृत्त। उस नृत्त का पर्याय उन्होंने माना लास्य। अब चूंकि तद्युगीन समस्त शास्त्रकारों ने नृत्त को देशी कहा था अतः उन्होंने भी लास्य को बाह्य कह दिया। यह भूल वैसी ही है जैसे धनंजय द्वारा नृत्य और नृत्त को ही क्रमशः मार्गी व देशी कहा जाना। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन तीन श्लोकों में मार्कण्डेय ने नाट्य व नृत्त, ताण्डव व लास्य तथा आभ्यन्तर व बाह्य इन तीन सर्वथा पृथक-पृथक् तत्त्वों को भ्रमवश परस्पर मिला दिया है।

(३) **मण्डपं द्विविधं भवेत्**—

यहाँ नाट्य मण्डप के दो ही भेद बताये गये हैं—आयत व चतुरस्र। जबकि नाट्यशास्त्र में इसके तीसरे भेद 'त्र्यस्र" की भी वर्णना है (देखिए ना० शा०, २/१०६)। मार्कण्डेय ने त्र्यस्र का उल्लेख कदाचित् इसलिए नहीं किया है कि वह कनिष्ठ तथा अधमों का रंगमंडप है।

यहाँ दिया गया रंगमण्डपों का माप भी भरत के 'मध्यम' रंगमण्डप के समान है; क्योंकि भरत ने उसे ही सर्वश्रेष्ठ माना है। उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र में आयताकार, चतुरस्र व त्र्यस्र तीनों प्रकार के रंगमंडपों के तीन-तीन भेद क्रमशः १०८, ६४ व ३२ माप की एक भुजा के बताये गये हैं जो दण्ड तथा हाथ के पृथक्-पृथक् परिमाण से १८ भेद हो जाते हैं।

(४) **पूर्व रंग विधि**—

यहाँ मार्कण्डेय ने नाट्यशास्त्र के तृतीय अध्याय में वर्णित 'रंग दैवत पूजन" को संकेतरूप में बताया है। किन्तु इस प्रसंग में यह बात भी स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि रंगमंडप निर्माण के प्रसंग में बताई गई रंग दैवत पूजन विधि और नाट्य के आरम्भ में होने वाली पूर्वरंग विधि में अन्तर है। जर्जर-पूजन दोनों जगह होता है लेकिन वास्तु देवता के पूजन का विधान नाट्यशास्त्रीय पूर्वरंग विधि में नहीं है, जैसा कि यहाँ उल्लेखित है।

(५) नान्दी पाठ—

"नान्दी" पूर्वरंग का सबसे महत्त्वपूर्ण व अनिवार्य अंग है, जिसका उल्लेख सभी आचार्यों ने समान रूप से किया है तथा इसमें देव, द्विज आदि पूज्यजनों की वंदना के साथ प्रशासक के सुशासन, राष्ट्र के प्रवर्धन, रंग की आशावृद्धि, नाट्यकार (कवि) को धर्म एवं यश की प्राप्ति तथा देवताओं के प्रीतिवर्धन की कामना की गई है। नान्दी में पदों की संख्या विभिन्न आचार्यों ने ८, १०, १२ से लेकर २२ तक बताई है, किन्तु इस विषय में मार्कण्डेय का दृष्टिकोण प्रयोग प्रधान रहा है। इसी कारण उन्होंने पद-संख्या का निर्धारण करने की अपेक्षा पात्रों की प्रकृति के अनुकूल चतुष्कल, त्रिकल या द्विकल नान्दी की व्यवस्था दी है। यहाँ यह बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि जहाँ अन्य आचार्यों ने या तो सूत्रधार द्वारा ही नान्दी पाठ की व्यवस्था दी है (सूत्रधार पठे· न्नान्दीम्) अथवा नान्दी-पाठकों की पृथक् अवस्थिति बताई गई है (दृष्टव्य-नाट्यशास्त्र, ३५/७४) वहाँ विष्णु-धर्मोत्तर में पात्रों की प्रकृति के अनुकूल द्विकल, त्रिकल या चतुष्कल नान्दी का स्वरूप उस परवर्ती लोक-परम्परा की ओर संकेतित करता है जिसमें नाटक के प्रमुख पात्र स्वयं मंच पर आकर नान्दी-पाठ किया करते थे। अथवा इसका एक तात्पर्य यह भी हो सकता है कि रूपक में जिस तरह के पात्रों का चरित्र-चित्रण हो उसे संकेतित करने के लिए उतनी ही कलाओं में नान्दी पाठ किया जाय। जो भी हो मार्कण्डेय की यह प्रस्थापना भी सर्वथा मौलिक व इतर ग्रंथों से भिन्न है।

(६) पात्र-लक्षण—

सामान्यत: लक्षण-ग्रंथों में नायकों को उनकी प्रकृति के अनुसार चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित व धीर-प्रशान्त। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि किसी भी शास्त्रकार ने देव, द्विज, नृपादि किसी वर्ग विशेष को कोई श्रेणी प्रदान नहीं की है। एक राजा धीरोदात्त भी हो सकता है और धीरललित भी। जबकि मार्कण्डेय ने समस्त पुरुष पात्रों को आठ श्रेणियों में बाँट कर एक वर्ग विशेष को एक श्रेणी में रख दिया है, जो नाट्यशास्त्रीय परम्परा में एक नवीन प्रस्थापना है।

(७) सात्त्विक अभिनय—

यहाँ दिये गये आठ सात्त्विक भावों के नाम लगभग वही हैं जो नाट्य-

शास्त्रादि ग्रन्थों में दिये गये हैं, केवल 'वेपथु' को स्पन्दन और "वैस्वर्य" को स्वर भेद कहा गया है। इस प्रकार के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग अन्य शास्त्र-ग्रन्थों में भी हुआ है।

(८) रेचक भेद—

भरतादिक आचार्यों ने चार प्रकार के रेचक माने हैं—हस्त, पाद, कटि व ग्रीवा रेचक। मार्कण्डेय ने भी इनकी संख्या चार मानी है किन्तु उनके नामों के सन्दर्भ में प्रस्तुत पाठ "कटिपादांघ्रिकाश्रयम्" भ्रामक है; क्योंकि पाद व अंघ्रि तो परस्पर पर्याय हैं अतः अंघ्रि शब्द यहां पुनरुक्त होने से व्यर्थ है। तब दो ही अंग रह जाते हैं—कटि व पाद। यदि अंघ्रि का अर्थ हाथ भी लिया जाय तब भी चौथे अंग ग्रीवा का नामोल्लेख रह जाता है। इस कारण डा० प्रियबाला शाह ने एक संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है—' चतुर्धा रेचकं ग्रीवा कटिपादकराश्रयम्" ' इस संशोधित पाठ को स्वीकार कर लेने से उक्त दोष का परिहार हो जाता है।

(९) चारी भेद—

यहां मार्कण्डेय ने चारी के दो भेद बतलाये हैं—चारी व महाचारी। सुकुमार अंग चेष्टा से युक्त चारी होती है (और उद्धत अंगविन्यास से युक्त महाचारी)। नाट्य शास्त्र के अनुसार चारी शृंगार रस की अभिव्यक्ति से सम्बद्ध है और महाचारी रौद्र रस की। वहीं एक अन्य सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि उमा चारी का व भूतगण महाचारी का प्रयोग कर प्रसन्न हुए थे (देखिए--नाट्यशास्त्र, ५/२७, ५६)। इन सन्दर्भों से स्पष्ट है कि चारी तथा महाचारी में वही अन्तर है जो लास्य व ताण्डव में। इसी प्रसंग में एक अन्य 'चारी' का उल्लेख करना भी आवश्यक प्रतीत होता है जिसका वर्णन नाट्यशास्त्र में भी और प्रस्तुत ग्रन्थ में भी आगे अ० ५ श्लोक ६३ पर किया गया है। इसी चारी का विस्तृत विवरण नाट्शास्त्र (११।१) में प्राप्त होता है जहां पैर, जंघा, ऊरु, कटि आदि अंगों की एक साथ (समान-करणात्) चलनात्मक चेष्टा को चारी कहा गया है। इस प्रकार विदित होता है कि चारी शब्द का प्रयोग दो अर्थो में किया गया है—पहला, एक पैर को उठा कर रखने या पैर व उससे सम्बद्ध अंग-प्रत्यंगों की समान रूप से चलनात्मक चेष्टा में और दूसरा, अंग-विन्यास की सुकुमार या उद्धत प्रकृति के अर्थ में।

वस्तुतः चारी शब्द का आशय 'चाल' शब्द से है। कथकली में 'सारी' तथा मणिपुरी में 'चाली' शब्द इसी के अपभ्रंश रूप हैं। इसे ही पाश्चात्य नृत्यों में Step कहा जाता है। नाट्यशास्त्र में इसके दो भेद बताये गये हैं—भौमीचारी व आकाशिकीचारी। एक पैर उठा कर भूमि पर रखना ही "भौमीचारी" है और उसे ऊपर की ओर उछाल देना ही "आकाशचारी" कहा गया है। इनमें से प्रत्येक के १६-१६ प्रकार बताये गये हैं। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के मत से कुल ३२ प्रकार की चारियाँ होती हैं। संगीत रत्नाकर आदि ग्रन्थों में इनके अतिरिक्त कतिपय देशी चारियाँ भी वर्णित हैं।

(१०) मण्डल भेद—

एक पैर से भरा जाने वाला डग "चारी" (संचारी) और दोनों पैरों से होने वाली गति "करण" कही जाती है। यह करण ताण्डव-विधि के प्रसंग में कहे गये अंगहारों के जनक 'करण' से भिन्न है। तीन करणों का योग "खण्ड" और तीन या चार खण्डों के मिलने से एक "मण्डल" बनता है। इस प्रकार विभिन्न चारियों के ही एक सुनिश्चित क्रम की संज्ञा "मंडल" है। चारी के समान ही मण्डल के भी दो भेद हैं—आकाशिकी मंडल व भौमी मंडल। इनमें से प्रत्येक के १०-१० प्रकार यहाँ नाट्शास्त्र के अनुरूप बताये गये हैं, अन्तर केवल इतना है कि नाट्यशास्त्र के तीसरे भौम मंडल "आवर्त" को यहां "मार्दव" नाम दिया गया है। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र के "अध्यार्ध" को 'अर्ध' और "पिष्टकुट्ट" को "पिष्टकुब्ज" लिखा गया है।

(११) अंगहार—

विभिन्न अंगों को सुन्दरता के साथ समुचित प्रकार से देशान्तर में रखने का नाम ही 'अंगहार' है। "अङ्गानां देशान्तरे समुचित प्रापणप्रकारोऽङ्गहारः"—अभिनव भारती (पृ० ९२)। जिस प्रकार चारियों के योग से मंडल का निर्माण होता है उसी प्रकार ७, ८ या ९ करणों के योग से एक 'अंगहार' निर्मित होता है। नाट्यशास्त्र में अंगहारों की संख्या ३२ बताई गई है, जब कि यहाँ ३६ अंगहार वर्णित हैं। उक्त दोनों ग्रंथों की अंगहार-सूची में निम्नलिखित २१ नाम समान हैं—१. स्थिर हस्त, २. आक्षिप्तक, ३. उद्घटित, ४. अपराजित, ५. मत्ताक्रीड़, ६. विष्कम्भ, ७. स्वस्तिक रेचित, ८. वृश्चिकापसृत, ९. भ्रमर, १०. पार्श्वस्वस्तिक, ११. मदविलसित, १२. गतिमंडल, १३. वैशाख रेचित, १४. परिच्छिन्न, १५. सम्भ्रान्त, १६. अला-

तक, १७. विद्युद्भ्रान्त, १८. परावृत्त, १६. आक्षिप्त रेचित, २०. सूचिविद्ध, २१. अपविद्ध, ।

निम्नलिखित ७ नामों में आंशिक समानता है--

नृत्तसूत्र	नाट्यशास्त्र
१. अवसर्पित	अवसप
२. मत्तल्लिस्खलित	मत्तस्खलित
३. उद्वर्तक	उरुद्वृत्त
४. रेचक	रेचित
५. अर्धनिकुट्टित	अर्धनिकुट्टक
६. परिवृत्तक रेचित	परिवृत्त रेचित
७. पार्श्वच्छेद	पार्श्वच्छिन्न

नृत्त सूत्र में जिन ८ नवीन अंगहारों का उल्लेख है उनके नाम हैं — १. तलमन्दा, २. विक्षिप्त, ३. बलाहक ४. आंगिक, ५. रति क्रीड़ा, ६. सौम्य ७. करित, ८. विलाप ।

(१२) करण तलपुष्पापविद्धे द्वे—

'करण'' ताण्डव-विधि का आधारभूत तत्त्व है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में १०८ करणों का वर्णन किया है। यहाँ भी कहा तो यही गया है—''ये एक सौ आठ करण बताए गए'' (अष्टोत्तर शतं ह्येतद् करणानां प्रकीर्तितम्) किन्तु वस्तुतः केवल ६० करणों के नाम दिये गये हैं। इनमें से निम्नलिखित ६ नाम नाट्य शास्त्र में उपलब्ध नहीं होते—१. रेचित, २. भ्रमित, ३. विलास, ४. वानरप्लुत, ५. विप्लुत, ६. परिक्षिप्त ७. अजप्लुत, ८. मंडित, व ६. संचित ।

दोनों ग्रंथों के निम्न १४ नामों में आंशिक समानता है—

नृत्तसूत्र	नाट्यशास्त्र
१. तलपुष्प	तलपुष्पपुट
३. उरू वृत्त	उरूद्वृत्त
३. करिच्छिन्न	कटिच्छिन्न
४. पाद विद्ध	पादापविद्ध
५. तड़ित भ्रान्त	विद्युत भ्रान्त

६. वलित	वलितोरु
७. लता लसित	लतावृश्चिक
८. निवृत्त	विनिवृत्त
९ नाग प्रक्रीडित	नागापसर्पित
१०. आक्रान्त	क्रान्त
११. नत	सन्नत
१२. अवक्रान्त	अपक्रान्त
१३. प्रसर्पित तल	प्रसर्पितक
१४. विवर्तित	वर्तित

नाट्यशास्त्र के निम्न ३१ करणों के नाम नृत्त सूत्र में प्राप्य नहीं है— १. समनख, २. अर्धनिकुट्ट, ३. कटिसम, ४. विक्षिप्ताक्षिप्तक, ५. अंचित, ६. वैशाख रेचित, ७. दण्ड रेचित, ८. वृश्चिक कुट्टित, ९. कटिभ्रान्त, १०. पार्श्व निकुट्टक, ११. आवृत्त, १२. विवृत्त, १३. पार्श्वक्रान्त, १४. निशुम्भित, १५. गज क्रीडिति, १६. तल संस्फोटित, १७. सूची, १८. दण्डपाद, १९. सिंहाकर्षित, २०. उपसृत, २१. तल संघटित, २२. जनित, २३. अवहित्थक, २४. निवेश, २५. एलका क्रीड़ित, २६. मदस्खलित, २७. सम्भ्रान्त, २८. विष्कम्भ, २९. उद्घट्टित, ३०. लोलितक, व ३१. शकटास्य ।

(१३) नृत्त भेद—

नाट्य शास्त्र में रूपकों का द्विविध प्रयोग बताया गया है—सुकुमार और आविद्ध । उसके अनुसार नाटक, प्रकरण, भाण, बीथी, तथा अंक का प्रयोग 'सुकुमार' होता है । इन श्रृंगार रसात्मक रूपकों का प्रयोग स्त्री पात्रों द्वारा कराया जाना चाहिए । इन रूपकों में भाग-दौड़, मार-काट आदि नहीं होती । इसके विपरीत डिम, समवकार, व्यायोग तथा ईहामृग में भाग-दौड़, शोर-गुल तथा मार-काट का अभिनय ही प्रधान होता हैं अतः ये "आविद्ध" प्रयोग वाले रूपक माने गए हैं । नाट्यशास्त्र इनका प्रयोग पुरुषों द्वारा ही कराये जाने के पक्ष में है । भरत वर्णित रूपकों के इन्हीं द्विविध प्रयोगों को यहाँ नृत्त-भेद के रूप में उद्धृत किया गया है जिन्हें एक प्रकार से ताण्डव व लास्य का पर्याय माना जा सकता है ।

(१४) पिण्डीबंध—

पिण्डी या पिण्डबन्ध चार प्रकार के होते हैं—१ पिण्डी, २ श्रृंखलिका,

३ लताबन्ध तथा ४ भेद्यक । प्रथम का पिण्डी या पिण्डबन्ध नाम इसके पिण्डीभूत होने अर्थात् अकेली नर्तकी तक सीमित होने के कारण अर्थानुसारी रखा गया है । दूसरे को गुल्म या गुच्छा (समूह) होने से 'शृंखलिका', परस्पर जाल जैसा बुना (गुंथा) होने पर, तीसरे को "लताबन्ध" और चौथा नृत्त का वह प्रकार है जिसमें नर्तकियाँ एक-दूसरे से पृथक हो जायें । पिण्डबन्ध को हम नृत्त में बनने वाली विभिन्न प्रकार की अवस्थितियाँ (Formations) कह सकते हैं । अभिनव गुप्त ने भी आकार-सादृश्य को ही पिंडीबन्ध कहा है । उनका मत है कि इस आकार-सादृश्य को ध्यान में रखकर ही प्रयोगानुसार पिण्डयों के स्वरूप परिकल्पित हैं । ये पिण्डबन्ध आधार, अंग, प्रयोग तथा साधकगत विभिन्नता के कारण अनेक प्रकार के हो सकते हैं, किन्तु भरत मुनि ने संकेत रूप में प्रधान देवगणों के नाम पर होने वाले पिंडबन्धों का उल्लेख किया है, जैसे—ईश्वर की ईश्वरी पिण्डी ।

(१५) वृत्तियाँ—

नाट्य प्रयोग में वृत्तियों का असाधारण महत्व होता है, क्योंकि इसी के द्वारा कथावस्तु की उद्‌भावना और काव्य का विकल्पन होता है । समस्त अभिनयों की परिसमाप्ति इन्हीं वृत्तियों में होती है इसीलिए ये वृत्तियाँ "नाट्य माता" कही गई हैं । व्यवहारिक रूप से नायक, नायिका, प्रतिनायक व अन्य का कायिक, वाचिक व मानसिक व्यापार (चेष्टा) ही 'वृत्ति' है । इस प्रकार वृत्ति का सम्बन्ध अभिनय की पद्धति से रहता है । किसी नाटक में गीत, नृत्य व श्रृंगार बहुल चेष्टायें अधिक रहती हैं । किसी में युद्ध, मार-काट, इन्द्रजाल आदि का प्रदर्शन रहता है, किसी में संवाद की प्रधानता रहती है और किसी में नायक के उदात्त गुणों को ही विस्तार से दिखाया जाता है । इन्हीं के आधार पर नाटकों के भेद निश्चित किये गये हैं । अतः जिस रूप में नाटक उपस्थित हो वही उसकी वृत्ति, ढंग, रूप, प्रकृति या शैली (Style) है । अर्थात् कथावस्तु में जिस प्रकार का कार्य अधिकता से प्रदर्शित किया जाए वही उसकी वृत्ति है । भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र के २०वें अध्याय में वृत्तियों का विस्तृत वर्णन किया गया है । उनके अनुसार ही यहाँ संक्षेप में भारती, सात्वती, आरभटी व कैशिकी—इन चार प्रकार की वृत्तियों का निरूपण किया गया है ।

(१६) प्रवृत्ति—

नाट्य-प्रयोग को अधिक प्रकृत व रसानुभूति ग्राहक रूप देने के लिए 'प्रवृत्ति' का विधान किया गया है। विश्व भर के विभिन्न प्रदेशों के स्थानीय वेश, आचार, भाषा तथा कार्य-व्यवहार को सूचित करने के कारण ये 'प्रवृत्ति' कहलाती हैं। यह प्रवृत्ति वस्तुतः मनुष्य मात्र की बाह्य प्रवृत्ति (Civilization) का दिग्दर्शन है। नाट्य प्रयोग में पात्रों की वेशभूषा, भाषा, व्तवहार आदि सभी बातों को उनकी स्थानीय विशेषताओं के साथ दिखलाना अभीष्ट होता है; क्योंकि ऐसा होने पर ही नाट्याभिनय यथार्थ प्रतीत होता है। प्रवृत्ति के अन्तर्गत वेशभूषा के अतिरिक्त स्थानीय संस्कार, व्यवहार, भाषा आदि अनेक तत्त्वों का समावेश होने से इसे आहार्य अभिनय से पृथक माना गया है। भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र के १४ वें अध्याय में प्रवृत्ति के जिन चार भेदों का विस्तार से वर्णन किया है वे ही आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली व मागधी नामक प्रवृत्तियाँ यहाँ संक्षेपतः उल्लेखित हैं। चूंकि विभिन्न प्रदेश वृत्तियों के प्रयोग एवं प्रदर्शन से ही मुख्यतः सम्बद्ध हैं अतः चार प्रकार की वृत्तियों के आधार पर ही प्रवृत्तियों के भी चार भेद मान लिए गये हैं। इसी तथ्य को मार्कण्डेय ने यहाँ "वृत्तिनामाश्रयास्तु ताः" कहकर प्रस्तुत किया है।

(१७) धर्मी—

'धर्म' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ होता है जाति या सम्प्रदाय में प्रचलित आचार का पालन। अभिनय अर्थात् नाट्य प्रयोग में भी लौकिक, उपयोगी तथा प्रतिष्ठित समसामयिक परम्पराओं (धर्मों) का अनुगमन होता है। उसका अपना स्वभाव (धर्म) है, अपनी मताचार परम्परा है। अतः अभिनय का अनुगामी होने से भरत मुनि ने अभिनय कथन के तुरन्त बाद धर्मी का उल्लेख किया है। उनके अनुसार धर्मी दो प्रकार का होता है —लोक धर्मी व नाट्य धर्मी। लोक के सहज जीवन का अनुकरण करने वाला स्वाभाविक (Realistic) अभिनय ही लोक धर्मी है और नृत्याभिनय की शास्त्रीय परम्पराओं का अनुगमन करने वाला प्रतीकात्मक (Conventional) व ललित अभिनय "नाट्यधर्मी" है। नाट्य प्रयोग में यथावसर इन दोनों का ही संतुलित प्रयोग विवक्षित है; जैसे—हम व्यावहारिक रूप से भी देखते हैं कि संवाद तो लोकधर्मी है किन्तु गान, वाद्य नाट्यधर्मी है। इन्हीं दो धर्मियों का यहाँ नाम नामतः कथन किया गया है।

(१८) सिद्धि—

"सिद्धि" शब्द का सामान्य अर्थ है—सफलता। इस सफलता की प्राप्ति के लिए ही समस्त नाट्य-प्रयोग प्रदर्शित .होता है। वस्तुतः नाट्य-प्रयोग का प्रधान लक्ष्य है—दर्शक के हृदय में आनन्द का, रस का उद्बोधन। वह तभी हो पाता है जब प्रस्तुत प्रयोग सिद्ध हो अर्थात् उसकी निर्विघ्न रूप से यथावत सफल प्रस्तुति हो। उसकी इस सिद्धि के निर्धारण के लिए भरत ने निश्चित मानदण्डों की स्थापना की है, इसी का नाम 'सिद्धि-विधान" है। यह सिद्धि दो प्रकार की बताई गई है—दैवी तथा मानुषी। नाट्य प्रयोग के सफल होने पर प्रेक्षकों के हृदय में जिस प्रसन्नता का उदय होता है उसका प्रकाशन अनेक रूपों में होता है। आनन्द प्रदर्शन की विविध प्रक्रियाओं का वर्गीकरण ही भरत ने इन सिद्धि-भेदों में किया है। इनमें से "मानुषी सिद्धि" मुख्यतः प्रसन्नता बोधक स्थूल संकेतों पर आधारित है। इसके भी दो भेद हैं—वाङ्मयी और शारीरी। जैसे—हँसना, रोना, आवाज करना, उठ कर खड़े हो जाना आदि। जिस नाट्य प्रयोग में सत्त्व की प्रधानता रहती है तथा भावाभिनय का आधिक्य रहता है उसे "दैवी सिद्धि" युक्त कहा जाता है। अर्थात् इन (सफलताओं से) विशेषताओं से युक्त होने पर नाट्य दिव्य सफलता से युक्त माना जाता है। इन्हीं सिद्धि भेदों को यहाँ संक्षेपतः बताया गया है।

(१९) शैया स्थान—

शय्या स्थान का यह विवरण नाट्यशास्त्र (१३/२२१-२२७) से ज्यों का त्यों उद्धृत है।

(२०) उपवेशन स्थान—

यहां उपवेशन (बैठने) के दस स्थानकों के साथ ही विभिन्न पात्रों के उपयुक्त आसनों का जो वर्णन किया गया है उक्त प्रकरण नाट्यशास्त्र के १३वें अध्याय में श्लोक संख्या १९६ से २१६ तक वर्णित है। यहाँ दिये गए उपवेशन स्थानों के विवरण पर नाट्यशात्र का प्रभाव होते हुए भी दोनों की प्रकृति भिन्न है। जहाँ नाट्यशास्त्र में स्वस्थ दशा, विचारावस्था, शोकावस्था, मूर्छा, लज्जा, रोग, निद्रा, धार्मिक-विधि सम्पादन, प्रिय-प्रसादन, देव वन्दन आदि दशाओं के उपयुक्त उपवेशन विधियों का वर्णन करते हुए

भी उन्हें न तो स्थानक माना है और न ही कोई नाम दिया है, वहीं नृत्यसूत्र में इनका विवरण स्वस्थ, मन्दालस, क्लान्त आदि नाम देकर दस स्थानकों के रूप में वर्णन किया है, जो कि परवर्ती परम्परा है। हाँ, नाट्यशास्त्र की कतिपय प्रतियों में "स्वस्थं मन्दालसं क्लान्त"—यह श्लोक प्राप्त तो होता है किन्तु न तो आगे का वर्णन इसी क्रम में प्राप्त होता है और न उन विवरणों में इन नामों की पुनरावृत्ति ही हुई है। अतः इसे वहां प्रक्षिप्त माना जा सकता है।

(२१) **स्वस्थ आसन** —

यह श्लोक नाट्यशास्त्र से ज्यों का त्यों उद्धृत है, केवल "वक्षः" के स्थान पर कतिपय प्रतियों में "त्रिकं" पाठ मिलता है जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

(२२) **मन्दालस आसन**—

यह श्लोक भी नाट्यशास्त्र (१३।१६८) से ही प्रतिग्रहीत है किन्तु जहाँ भरत ने इसे बिचारावस्था में उपवेशन विधि बताया है (सचिन्त उपवेशने) वहीं प्रस्तुत ग्रंथ में इसे "मन्दालस स्थान" नाम दिया गया है। इसी प्रकार जहाँ भरत ने "शिरः पार्श्वानतञ्चैव" कह कर सिर की बगल में झुकाने का निर्देश दिया है, वहाँ प्रस्तुत पाठ "पार्श्वंनतं तथा कार्यं" से पूरे धड़ को ही बगल में झुकाने का निर्देश प्राप्त होता है। संगीत रत्नाकर में भी चूंकि सिर को झुकाने की ही बात कही गई है अतः यहाँ भी "पार्श्वनतं शिरः कार्यं" पाठ कर लेना उचित होगा।

(२३) **क्लान्त आसन**—

इस श्लोक की प्रथम पंक्ति नाट्यशास्त्र (१३/१६६) से ग्रहीत है, जब कि द्वितीय पंक्ति संगीत रत्नाकर के अनुरूप है। हाँ, संगीत रत्नाकर में इस स्थानक को "क्रान्त" नाम दिया गया है, जो कि इसके लक्षण को देखते हुए उचित प्रतीत नहीं होता। अतः वहां प्रस्तुत ग्रंथ के आधार पर संशोधन कर लेना उचित होगा।

(२४) **उत्कट आसन**—

इस उत्कट स्थानक का लक्षण संगीत रत्नाकर (७/११००) में इस प्रकार बताया गया है—जब दोनों एड़ियाँ तथा नितम्ब (कूल्हे) समान स्तर

पर हों एवं पैर (पंजे) भूमि से मिले हों तब 'उत्कट' स्थान होता है। भरत ने इसे "उत्कटिक" स्थान कहा है अर्थात् उठी या तनी हुई कूबड़ (कटि) वाला स्थानक। भरत मुनि ने इसका लक्षण यों बताया है—"इसमें कूबड़ तनी हुई तथा दोनों पैरों के गट्टों (स्फिक) तथा पंजों (पार्ष्णि) को मिला कर बैठना चाहिये।" (नाट्यशास्त्र १३/२०२) में इन समस्त लक्षणों पर सम्यक रूप से विचार करने पर ज्ञात होता है कि कमर तान कर पंजे के बल बैठना ही यहाँ अभीष्ट है। चूँकि इसमें कमर तानने की क्रिया ही मुख्य है अतः इसे 'उत्कट' के स्थान पर "उत्कटिक" कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

(२५) आसन विधि—(मण्डासनं तु दातब्यं)

"मंडासन" को भरत मुनि ने "मुण्डासन" कहा है। यह एक गोलाकार आसन होता है जिसमें पीठिका नहीं होती, इसी कारण इसे "मुण्डासन" (मुंडा हुआ आसन) कहते हैं। डा० प्रियबाला शाह ने 'मंडासन' का अर्थ "मंड नामक घास से बना आसन" किया है जो उचित प्रतीत नहीं होता।

(२६) स्थानक भेद—

निश्चल अंगों का विशिष्ट सन्निवेश ही "नृत्त स्थान" है। प्रत्येक चारी (पद संचालन) या करण का आरम्भ व अन्त स्थिति (Static Position or Posture) में ही होता है। नृत्त प्रयोग में इसी स्थिति को 'स्थान" या "स्थानक" कहा जाता है। यहाँ जिन छः पुरुष स्थानकों का वर्णन किया गया है वे लगभग भरत नाट्यशास्त्र (११/४६-७०) के अनुसार ही हैं। संगीत रत्नाकर, नृत्याध्याय, नृत्य रत्नकोश आदि ग्रंथों में इन षट् पुरुष स्थानकों के अतिरिक्त ७ स्त्री स्थान, २३ देशी स्थान, ६ उपविष्ट स्थान तथा ६ सुप्त स्थानकों का भी वर्णन किया गया है, जिनमें से आयत, अवहित्थ व हय क्रान्त (अश्व क्रान्त)—इन तीन स्त्री स्थानकों का वर्णन यहाँ मार्कण्डेय ने भी किया है, जिसे इस दिशा में प्रथम पहल माना जा सकता है।

(२७) वैशाख स्थान—

वैशाख स्थान के लक्षण में नाट्य शास्त्र में दोनों पैरों में ३½ ताल का अन्तर बताया गया है जबकि यहाँ २½ ताल का अन्तर रखा गया है। शेष लक्षण दोनों में समान हैं।

(२८) मण्डल स्थान—

मंडल स्थान के लक्षण में भी भरत ने दोनों पैरों में चार ताल का अन्तर बताया है किन्तु यहाँ उक्त अन्तर केवल तीन ताल का है।

(२९) शिरो कर्म—

यहाँ वर्णित शिरोभेद भी भरत के अनुसार ही हैं, केवल आधुत के स्थान पर उद्वाहित तथा कुछ प्रतियों में परिवाहित को परिगहित, निहंचित की निकुंचित, लोलित को परिलोलित लिखा गया है । उल्लेखनीय है कि प्रो० मनमोहन घोष ने भी आधुत के स्थान पर उद्वाहित शिर का विवरण ही अपने नाट्य शास्त्र में दिया है जबकि संगीत रत्नाकर में आधुत तथा उद्वाहित दोनों की ही गणना भरत-वर्णित शिरोभेदों में की गई है। परवर्ती ग्रंथकारों ने कतिपय नवीन शिरोभेदों की भी कल्पना की है। संगीत रत्नाकर में ऐसे पांच तथा नृत्त रत्नावली में ११ नवीन शिर कर्म वर्णित हैं। दूसरी ओर अभिनय दर्पण में उपर्युक्त भरतोक्त भेदों में से जिन दो भेद में परस्पर क्रिया साम्य है केवल गति में अन्तर है उन्हें मिलाकर शिरोभेद की संख्या मात्र ९ कर दी है।

(३०) ग्रीवा कर्म—

नाट्य शास्त्रादि ग्रन्थों में ९ प्रकार के ग्रीवा कर्म बताये गये हैं—समा, नता, उन्नता, त्र्यस्रा, रेचिता, कुंचिता, अंचिता, वलिता व विवृता (निवृता), यहाँ केवल ७ प्रकार के ग्रीवा कर्म बताये गये हैं, इनमें से मुक्त, चतुर, प्रसारित व स्तब्ध–ये चार नये ग्रीवा भेद हैं, जबकि पूर्वोक्त 'वलित' को ही यहाँ 'विवृत्त' कहा गया है। अभिनय दर्पण में वर्णित चार प्रकार के ग्रीवा भेद (सुन्दरी, तिरश्चीना, परिवर्तिता व प्रकम्पिता) इन सभी से भिन्न हैं।

(३१) मुख कर्म—

नाट्य शास्त्र में छः प्रकार के मुख कर्म बताये गये हैं—विधुत, विनिवृत्त, निर्भुग्न, भुग्न, विवृत्त तथा उद्वाही । संगीत रत्नाकर मे इन्हें 'बदन' कहा गया है तथा निर्भुग्न के स्थान पर 'व्याभुग्न' पाठ मिलता है। साथ ही संगीत रत्नाकर नाट्य शास्त्र के 'भुग्न' को 'व्याभुग्न' और 'निर्भुग्न' को 'भुग्न' कहता है। यहाँ जो ७ मुख कर्म बताए गए हैं इनमें से विरुद्ध व अवभुग्न ही नाट्य शास्त्र के विनिवृत्त व निर्भुग्न हैं, जबकि 'ऋजु' नवीन मुख कर्म है।

शेष नाम नाट्य शास्त्र से समानता रखते हुए उनके लक्षणों में अन्तर है। इसी क्रम में नाट्य शास्त्र में चतुर्विध "मुखराग" का भी वर्णन किया गया है जिनके नाम हैं—स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त व श्याम।

(३२) वक्ष कर्म—

यहाँ वर्णित पाँच प्रकार के वक्ष कर्म नाट्य शास्त्र आदि ग्रन्थों के अनुरूप हैं। नृत्य रत्नकोश में इनके अतिरिक्त ६ प्रकार के "स्तन भेद" भी बताए गए हैं जिनके नाम हैं—उच्च, पाण्डुर, श्याम, सुपीन, लोलित व संकुच वदन।

(३३) सौष्ठव भेद—

"सौष्ठव" प्राचीन नृत्य कला का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। भरत मुनि ने इसकी चर्चा करण व चारी के प्रसंग में दो स्थानों पर की है। संगीत रत्नाकर आदि ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है। नाट्य शास्त्र के अनुसार—"शरीर को सीधे अर्थात् न तो ऊँचे, न तने हुए, न अधिक झुके हुए वरन् यथेच्छ स्थिति में रखकर अंगों का सौष्ठव प्रदर्शित करना चाहिए। समस्त नाट्य व नृत्त इस सौष्ठव में ही सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित है। सौष्ठव रहित अंग नाट्य व नृत्त में सौन्दर्य सृष्टि नहीं कर सकते।" नाट्यशास्त्र (११/६२) में ही सौष्ठव के साथ "चतुरस्र" की चर्चा की गई है। "जब दोनों हाथ, कटि व नाभि चलायमान हो, छाती तनी व वैष्णव स्थान हो, तो अंगों का एक साथ होने वाला यह सारा व्यापार "चतुरस्र" कहा जाता है।" मार्कण्डेय ने इस चतुरस्र को भी यहाँ सौष्ठव का ही भेद मान लिया है, जबकि द्वितीय भेद 'सम' को मूल सौष्ठव समझना चाहिए।

(३४) पार्श्व कर्म—

नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों में भी ये ही पाँच प्रकार के पार्श्व कर्म बताये गये हैं।

(३५) उदर कर्म—

नाट्यशास्त्र एवं नृत्त रत्नावली में ३ प्रकार के उदर कर्म बताये गये हैं—क्षाम, खल्व तथा पूर्ण। पाठान्तर में चौथा भेद 'सम' भी मिलता है। जबकि संगीत रत्नाकर में चौथा भेद "रिक्तपूर्ण बताया गया है। यहाँ भरत वर्णित तीन भेदों में से "खल्व" को ही निम्न कहा गया है।

(३६) कटि कर्म—

नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों में भी ये ही पांच प्रकार के कटि कर्म बताये गये हैं।

(३७) उरु कर्म—

नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थो में भी ये ही पाँच प्रकार के उरु कर्म बताये गये हैं, केवल पाठ भेद से कहीं-कहीं 'वलित' को 'चलित' तथा 'स्तम्भित' को 'स्तब्ध' लिखा गया है।

(३८) जंघा कर्म—

यहाँ वर्णित पांच प्रकार के जंघा कर्म नाट्यशास्त्र के अनुसार ही हैं, जबकि संगीत रत्नाकर, नृत्त रत्नावली और नृत्य रत्नकाश में इनके अलावा पाँच प्रकार के जंघा कर्म और बताये गये हैं—निःसृता, परावृत्ता, तिरश्चीना, बहिर्गता व कम्पिता। नृत्त रत्नावली में 'परावृता' को 'भ्रमिता' कहा गया है।

(३९) पाद कर्म—

नाट्यशास्त्र में ५ प्रकार के पाद कर्म बताये गये हैं—उद्घट्टित, अग्रतल संचर, अंचित, कुंचित व सम। कतिपय प्रतियों में छठा पाद भेद त्र्यस्र, कहा गया है जबकि अन्य प्रतियों में छठा स्थान 'सूची' को प्राप्त है। यहाँ भी नाट्यशास्त्र के अनुसार ही ५ पादकर्म वर्णित हैं किन्तु 'अग्रतलसंचर' के स्थान पर 'पार्ष्णिगरेचित संचर' अथवा 'पाद रेचित' संज्ञा प्राप्त होती है। संगीत रत्नाकर में पाद कर्म का नाम 'चरण भेद' दिया गया है तथा इसके अन्तर्गत भरत-वर्णित ५ भेदों के अलावा अन्य मतों से ये ७ भेद और बताये गये हैं—त्राटित, घटितोत्सेध, घट्टित, मर्दित, अग्रग, पार्ष्णिग व पार्श्वग। नृत्त रत्नावली में इन १२ के अलावा २ भेद और बताये हैं-अंगुली पृष्ठग व तलाहति। अभिनय दर्पण में पाद भेद के अन्तर्गत मण्डल, उत्प्लवन, भ्रमरी एवं चारियों का वर्णन किया गया है।

(४०) दृष्टि भेद—

भाव प्रदर्शन के विचार से शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अवयव नेत्र है जो हमारे समस्त हृद्गत विचारों को प्रतिबिम्बित करने तथा प्रेक्षकों पर

अपेक्षित प्रभाव डालने में सर्वाधिक समर्थ है। ये दृष्टियाँ इतने प्रकार की हैं कि शार्ङ्गदेव के शब्दों में चतुर्मुख ब्रह्मा भी उन सबका वर्णन करने में असमर्थ है। तदपि भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में तथा उनके अनुकरण पर संगीत रत्नाकर, नृत्त रत्नावली, नृत्य रत्नकोश आदि ग्रंथों में तथा यहाँ नृत्त सूत्र में भी ३६ प्रकार के दृष्टि भेदों का वर्णन किया गया है जो कि रस तथा भावों पर आधारित है। इनमें से रसों की ८, स्थायी भावों की ८ तथा व्यभिचारी भावों की २० दृष्टियाँ हैं। इनके अतिरिक्त भरत ने 'दर्शन' के भी ८ भेद बताये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—सम, साची, आलोकित, विलोकित, प्रलोकित, उल्लोकित, अनुवृत्त तथा अवलोकित। अभिनय दर्पण में इन दर्शन भेदा को ही दृष्टि भेद के रूप में प्रस्तुत किया गया, केवल 'विलोकित' के स्थान पर वहां 'मीलित' वर्णित है।

(४१) पुट कर्म—

नाट्य शास्त्रादि ग्रन्थों में भी इन्हीं नौ प्रकार के पुट कर्मों का वर्णन किया गया है।

(४२) तारक कर्म—

ये ६ प्रकार क तारक कर्म भी नाट्यशास्त्र के अनुसार ही वर्णित हैं।

(४३) दर्शन भेद—

ये दर्शन भेद भी नाट्शास्त्र के अनुसार ही हैं केवल उनमें से प्रलोकित का यहां अभाव है।

(४४) भ्रू कर्म—

ये ६ प्रकार के भ्रू कर्म भी नाट्यशास्त्र के अनुसार वर्णित हैं केवल 'सहज' को 'स्वाभाविक' कहा गया है।

(४५) गण्ड कर्म—

नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों में भी ये ही ७ प्रकार के गण्ड कर्म वर्णित हैं, केवल कहीं-कहीं 'कंपित' को 'स्फुरित', 'सम' को 'प्राकृत' या 'पूर्ण' को 'घूर्ण' कह दिया गया है। इसी प्रकार नृत्त रत्नावली तथा नाट्यशास्त्र की कतिपय प्रतियों में "सरोमाञ्च" की गणना न कर केवल ६ प्रकार के गण्ड कर्म बताए हैं।

(४६) नासिका कर्म—

ये ६ प्रकार के नासिका कर्म भी नाट्यशास्त्रादि ग्रंथों के अनुसार ही वर्णित हैं।

(४७) दन्त कर्म—

नाट्यशास्त्र में जिसे "चिबुक कर्म" कहा गया है उसे ही संगीत रत्नाकर तथा नृत्त सूत्र में "दन्त कर्म" नाम दिया गया है। इनके भरत द्वारा बताये गये लक्षणों को ध्यान से देखने पर इनकी 'चिबुक' (ठोड़ी) की अपेक्षा 'दन्त कर्म' संज्ञा ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है। भरत ने इन्हें चिबुक कर्म सम्भवतः इसलिए कहा हो कि एक तो उन्होंने जिन छः उपांगों का वर्णन किया है उसमें उन्होंने दन्त की बजाय चिबुक को ही छठा उपांग माना है, दूसरे दांतों के संचालन के साथ ठोड़ी स्वतः ही चलने लगती है। बिना दन्त पंक्ति के ठोड़ी का स्वतंत्र संचलन सम्भव नहीं है। अस्तु ! भरत ने चिबुक के सात कर्म बताये हैं—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित, लेहित, सम व दष्ट। नृत्त सूत्र में इनमें से लेहित व दष्ट को छोड़कर शेष पाँच दन्त कर्म के रूप में वर्णित हैं। संगीत रत्नाकर में इनके अतिरिक्त भी ८ प्रकार के दन्त कर्मों का वर्णन करते हुए लिखा है कि ' जिह्वा ओष्ठ व दन्त क्रियायों से चिबुक कर्म स्वतः ही लक्षित हो जाता है तदपि उन कहे हुओं को ही सुख के लिए कहता हूँ।" इसमें भी उन्होने भरत के 'लेहित' कर्म को मान्यता नहीं दी है। उसे जिह्वा कर्म माना है। लेहित को छोड़कर भरत-वर्णित उपर्युक्त ६ चिबुक या दन्त कर्मो के अतिरिक्त उन्होंने जिन दो नवीन दन्त कर्मों का वर्णन किया है वे हैं—ग्रहण एवं निष्कर्षण। इनके द्वारा वर्णित अन्य आठ चिबुक कर्म हैं—व्यादीर्ण, श्वसित, वक्र संहत, चल संहत; स्फुरित, चलित व लोल । अभिनय दर्पण में इनका उल्लेख ही नहीं है। नृत्त रत्नावली में भरत के अनुसार सप्त-विध चिबुक भेद तथा नृत्य रत्नकोश में अष्ट विध दन्त कर्म बताये गये हैं जो कि संगीत रत्नाकर के अनुसार हैं। नृत्त रत्नावली में उपर्युक्त ७ चिबुक कर्म के अलावा पृथक से जिन ५ दन्तकर्मों का वर्णन है वे हैं—चर्वण, छेदन, पीड़न, ग्रहण व निष्कर्षण। इस प्रकार हम देखते हैं कि कहीं तो लक्षण ग्रंथों में चिबुक कर्म को ही दन्त कर्म माना गया है और कहीं दोनों पृथक्-पृथक् वर्णित हैं।

(४८) अधर कर्म—

यहाँ वर्णित ६ अधर कर्म नाट्यशास्त्र के अनुसार ही हैं। संगीत रत्नाकर तथा नृत्य रत्नकोश में इनके अतिरिक्त ४ अधर कर्म और बताये गये हैं, ये हैं—उद्वृत्त, विकासी, आयत व रेचित। नृत्त रत्नावली में भी इन दसों का का उल्लेख करते हुए "कम्पन" को "वेपन" कहा गया है।

(४९) हस्ताभिनय—

भारतीय नृत्य व नाट्य प्रयोग में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं—हस्ताभिनय। संसार में ऐसा कुछ भी नहीं जो इन हस्ताभिनयों से न दिखाया जा सके। एक प्रकार से इन्हें भारतीय नाट्य भाषा की शब्दावली कहा जा सकता है। प्राचीन मनीषियों ने विभिन्न जातियाँ, देवता, बाँधव, व्यक्ति, स्थान, सामान्य व्यवहार की वस्तुओं, भावों, क्रियाओं आदि को व्यक्त करने वाली सहस्रों हस्तमुद्राओं का व्याख्यान किया है। मूलतः भरत मुनि ने हस्ताभिनयों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—१. असंयुत हस्त, २. संयुत हस्त तथा ३. नृत्त हस्त। नाट्य शास्त्र में २४ असंयुत, १३ संयुत तथा ३० नृत्त हस्तों का वर्णन किया है। यहाँ नृत्त सूत्र में नाट्य शास्त्र के अनुरूप ही ६४ हस्ताभिनयों का वर्णन किया गया है, केवल भरत वर्णित नृत्त हस्तों में से स्वस्तिक, विप्रकीर्ण, उत्तानवंचित एवं पक्षवंचितक के स्थान पर अवहित्थ, अंचित, अन्वय व पद्मकोश नामक चार नवीन नृत्तहस्तों का उल्लेख प्राप्त होता है।

(५०) हस्तकरण—

नाट्य शास्त्रादि ग्रंथों में चार प्रकार के हस्त करणों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं—आवेष्टित, उद्वेष्टित, व्यावर्तित तथा परिवर्तित। आवेष्टित में तर्जनी से आरम्भ कर सभी अँगुलियाँ क्रमशः हथेली की ओर वेष्टित की जाती (मोड़ी) हैं, जबकि उद्वेष्टित में तर्जनी से ही आरम्भ कर सभी अँगुलियाँ बाहर की ओर क्रमशः फैलायी जाती हैं। ये ही दोनों क्रियायें जब कनिष्ठिका से प्रारम्भ कर उपर्युक्त दोनों क्रियायें दुहराई जाएँ तो उन्हें व्यावर्तित व परिवर्तित कहा जाता है। नृत्तसूत्र में वर्णित समवेष्ट को आवेष्टित, उद्वेष्ट को उद्वेष्टित, विवेष्टित को व्यावर्तित और विवर्तित को परिवर्तित माना जा सकता है।

(५१) अभिनय भेद—

वाचिक अभिनय का वर्णन मार्कण्डेय नृत्त सूत्र के प्रारम्भ में ही (१।२०) कर चुके हैं। सात्त्विक अभिनय वर्णन भी पूर्व में (१।१८-१९) में कर चुके है तथा आंगिक अभिनय भेदों का विस्तार से वर्णन अध्याय २ के ७ तक कर ही चुके हैं अतः अब यहाँ नृत्य, विशेष कर नाट्य प्रयोग के लिए उपयोगी जानकर आहार्य अभिनय का विस्तृत विरेचन कर रहे हैं। आहार्य अभिनय का प्रस्तुत विवरण भी मुख्यतः नाट्यशास्त्र पर ही आधारित है।

(५२) आहार्य अभिनय विधि—

:'चतुर्विधं तु विज्ञेयं''—यह पूरा श्लोक नाट्यशास्त्र (२३/४) से ही संग्रहीत है, केवल 'नेपथ्यं' के स्थान पर 'विज्ञेयं' कर दिया गया है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में 'नेपथ्यं' पाठ ही अधिक उपयुक्त है।

(५३) पुस्त रचना—

नाट्य शास्त्र (२३।५) में पुस्त रचना तीन प्रकार की बताई गई है—संधिम, व्याजिम व चेष्टिम। इनमें से भूर्जपत्र, वस्त्र या चर्म आदि से निर्मित रूपाकृति को 'संधिम' कहा गया है, जिसका मात्र उल्लेख यहाँ किया गया है। इसमें भी निर्माण सामग्री में मिट्टी, लकड़ी व लोहा का नाम जोड़ दिया गया है, जो इस प्रविधि की विकास अवस्था का द्योतक है। शेष दो के लक्षण इस प्रकार हैं—जब यन्त्रों के द्वारा कृत्रिम गति उत्पन्न कर किसी रूपाकार को प्रदर्शित किया जाये तो उसे ''व्याजिम'' कहा जाता है। जब चेष्टाओं के द्वारा ही किसी रूप को प्रदर्शित किया जाए तब उसे 'चेष्टिम' कहते हैं।

(५४) अलंकार विधान—

यह श्लोक भी 'विनिर्गतः' तक नाट्यशास्त्र (२३/६) से ही लिया गया है किन्तु जहाँ नाट्यशास्त्र में माला के ५ प्रकार, आभरणों के ४ प्रकार तथा अन्य कई प्रकार के आभूषणों के विवरण दिये हैं वहां नृत्त सूत्र में इस प्रसंग को संक्षिप्त करते हुए नियोगादि के अनुरूप इनका प्रयोग करने की व्यावहारिक सलाह दी गई है।

(५५) अंग रचना—

यहां जो श्वेत, रक्त, पीत, श्याम व हरित—इन पांच मूल वर्णों तथा इनसे विनिर्मित अनन्त वर्णों एवं श्याम-गौर वर्णों के विभागों का कथन किया गया है वह नाट्यशास्त्रादि ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। चित्रसूत्र के अंगभूत नृत्त सूत्र में वर्णित यह वर्ण-विधान सर्वथा मौलिक व सहज स्वाभाविक है, जो नाट्य प्रयोग में अंग-रचना के क्रमिक विकास की महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

(५६) वक्ष्यामि वर्णान्देवानां—

इससे आगे देवताओं तथा अन्य प्रजातियों की जो वर्ण रचना बताई गई है वह प्रायः नाट्यशास्त्र पर ही आधारित है तथा संख्या २६ तक सभी श्लोक नाट्यशास्त्र से ही संग्रहीत हैं, किन्तु, 'लिपिक प्रमाद' के कारण अनेक स्थलों पर अर्थ का अनर्थ भी हो गया है। जैसे—नाट्यशास्त्र (२३/९२) के "नारायणः नरश्चैव श्यामो नागश्चवासुकिः" के स्थान पर यहाँ (श्लो० १८) "श्यामस्तु वासुकिः कार्यो नागा गौरा स्तथापरे" हो गया है। वासुकि तो नागों के ही राजा हैं अतः उन्हें छोड़ कर अन्य नाग गौर वर्ण कैसे हो सकते हैं? इसी श्लोक के अंत में नाट्यशास्त्र के "गुह्यका नगाः" के स्थान पर "गुह्यकानुगाः" पाठ हो जाने से अर्थ भेद हो गया है। श्लो० १९ में भी नाट्यशास्त्र (२३/९३) के "पिशाचा यम आकाशं श्यामवर्णास्तुवर्णतः" के स्थान पर "पिशाचा जल संकाशाः संमितास्तु विवर्णतः" पाठ हो जाने से अर्थ पूरी तरह बदल गया है।

(५७) चन्द्रवर्णा द्विजाः कार्या—

नाट्यशास्त्र (२३/१०७-८) में ब्राह्मण-क्षत्रिय को गौरवर्ण तथा वैश्य-शूद्र को श्याम वर्ण बताया गया है, किन्तु यहाँ चारों जातियों के लिए चार अलग-अलग वर्णों का विधान इस विषय के चिन्तन की विकासावस्था को सूचित करता है।

(५८) श्मश्रु विधान—

नृत्त सूत्र का श्मश्रु-विधान भी मुख्यतः नाट्यशास्त्र पर ही आधारित व संक्षिप्तीकृत है। श्लोक सं० २८, २९ व ३० वहीं से (२३/११०, ११, १३) से संग्रहीत हैं। केवल श्लो० सं० २७ में नाट्यशास्त्र से मत-पार्थक्य

है। नाट्यशास्त्र (२३/१९१-१२) में सिद्ध विद्याधर, पार्थिव (राजा) तथा कुमारों की विचित्र श्मश्रु करने का विधान बताया गया है तथा देवों व गन्धर्वों का अन्य दिव्य-पुरुषों से पृथक उल्लेख नहीं है, जब कि यहां उनकी श्मश्रु न करने का विधान बताया गया है, जो अधिक उपयुक्त एवं लोकाचार परम्परा से समर्थित है।

(५९) वेश रचना—

नाट्यशास्त्र (२३/११९-३३) के विस्तृत वेश-रचना विधान को यहां अत्यन्त संक्षेप में कह दिया गया है। दोनों विवरणों में कहीं मतभेद नहीं है।

(६०) मुकुट विधि—

यहां वर्णित मुकुट-विधि पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव होते हुए भी यत्र-तत्र मत-वैभिन्य तथा किञ्चित् नवीनता भी है। "त्रिविधा मुकुटा ज्ञेया" यह श्लोकार्ध नाट्यशास्त्र से ही ग्रहीत है तथा इसका उत्तरार्ध भी उससे समर्थित है किन्तु श्लोक ३४-३५ में जो विभिन्न कोटि के पात्रों के लिये क्रमशः ७, ५, ३ व १ शिखरों वाले किरीटों की बात कही गई है वह नवीन तथा सम्भवतः प्रतिमाशास्त्र से प्रेरित उत्तरवर्ती परम्परा है।

(६१) विद्याधराणां सिद्धानां—

यह श्लोक भी नाट्यशास्त्र (२३/१३९) से ही लिया गया है किन्तु नाट्यशास्त्र के "चारणानां" के स्थान पर यहां "वानराणां" और "ग्रन्थिमत्केश मुकुटः कर्त्तव्यस्तु" के स्थान पर "ग्रन्थिमन्तस्तु कर्त्तव्या मुकुटास्तु" पाठ हो जाने से अर्थ ही बदल गया है। इसी प्रकार पूर्ववर्ती श्लोक "दैत्य दानव यक्षाणां" से "मुकुटाः शुभाः" तक नाट्यशास्त्र (२३/१३६-३७) में इस प्रकार दिया गया है—

> देव गंधर्व यक्षाणां पन्नगानां सराक्षसाम्।
> कर्त्तव्या नैकविहिता मुकुटा पार्श्व मौलिनः॥

(६२) केश-विधि—

केश-विधि भी मुकुट-विधि का ही एक अंश है तथा एतद् विषयक समस्त श्लोक भी नाट्यशास्त्र से ही अस्त-व्यस्त रूप से संग्रहीत है, जिनमें लिपिक-प्रमाद भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है। जैसे—श्लोक ३७ के उत्त-

रार्ध में दानवों को 'कृष्ण पक्षाः' कहा गया है और उसके तुरन्त बाद श्लोक ३८ में उन्हें "हरिश्मश्रुकचाः" बताया गया है जो नाट्यशास्त्र (२३/१४०) से भी अनुमोदित है। अतः पूर्ववर्ती श्लोकार्ध दोषपूर्ण प्रतीत होता है।

(६३) संजीव विधि—

संजीव विधि सम्बन्धी श्लोक ४४ का पूर्वार्ध तो नाट्यशास्त्र (२३/१५७) में ज्यों का त्यों ले लिया गया है किन्तु उत्तरार्ध में जहाँ 'संजीव' का लक्षण दिया गया है वहां नाट्यशास्त्र से भिन्नता आ गई है। नाट्यशास्त्र का कथन है कि—"यः प्राणिनां प्रवेशो वै स सञ्जीव इति स्मृतः" अर्थात् जिस विधि से चतुष्पद, द्विपद या अपद प्राणियों का मंच पर प्रवेश दिखाया जाये उसे संजीव कहते हैं।

(६४) तथैवायुधहस्तानां—

नाट्यशास्त्र के २३वें अध्याय के अन्तिम भाग में विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का स्वरूप, निर्माण एवं संचालन विधि बताई गई है, उसे ही यहां संक्षेप में संकेतित कर दिया है।

(६५) सामान्याभिनय—

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के २४ वें अध्याय में वाणी, अंग और सत्त्व से समुद्भूत सामान्याभिनय और २६ वें अध्याय में उसी के विस्तार रूप 'चित्राभिनय' का अत्यन्त विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि ये कोई नवीन अभिनय भेद नहीं हैं, अपितु पूर्वोक्त आंगिकादि अभिनय भेदों का ही समानीकृत प्रयोग है, जिसके द्वारा वह मार्ग दिखाया गया है कि किस-किस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए किन-किन अभिनय भेदों का प्रयोग कैसे-कैसे किया जाये। इस तरह स्वाभाविक रूप से सामान्याभिनय की सीमा बहुत विस्तृत हो जाती है। नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त दोनों अध्यायों के आधार पर ही यहाँ संक्षेपतः सामान्याभिनय का स्वरूप दिग्दर्शित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास में जहाँ नाट्यशास्त्र में वर्णित अनेक विषयों एवं विवरणों को छोड़ दिया गया है वहीं कहीं-कहीं पाठभेद व तज्जन्य अर्थ-भेद भी दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणतः प्रथम श्लोक का उत्तरार्ध तथा बाद के दो श्लोक नाट्यशास्त्र (२४/१, ८०, ८१) से यथावत् ले लिये गये हैं, जबकि श्लोक ४ का उत्तरार्ध नाट्यशास्त्र (२४/८४) में इस प्रकार प्राप्य है—"एकोच्छ्वासेन

हृष्टेष्टौ रसगंधौ विनिर्दिशेत्'' । इसी प्रकार श्लोक ५ ''इन्द्रियार्थस्तु पञ्चैते'' आदि नाट्यशास्त्र (२४/८६-८७) के निम्न दो श्लोक जोड़ कर बना है—

इन्द्रियार्थश्च मनसा भाव्यते अनुभावतः ।
न वेत्ति ह्यमनाः किञ्चिद्विषयं पञ्चहेतुकम् ।।
मनसस्त्रिविधो भावो विज्ञेयोऽभिनयं प्रति ।
इष्टोऽनिष्ट स्तथा चैव मध्यस्थश्चतथैव च ।।

(६६) गतियों के लक्षण—

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के १३ वें अध्याय में विभिन्न प्रकार की गतियों का वर्णन किया गया है, उसी के आधार पर यहाँ भी विभिन्न प्रकार की गतियों के लक्षण वर्णित हैं । नृत्त सूत्रकार ने नाट्यशास्त्र से गतियों के लक्षण संग्रहीत करने के साथ ही अपनी मौलिकता भी प्रदर्शित करने का प्रयास किया है । जैसे—नाट्यशास्त्र (१३/३२) में ज्येष्ठों की चतुष्कल, मध्यमों की द्विकल, उत्तमजनों की विकल तथा अधमों की अर्धकल गति बताई गई है किन्तु यहाँ उसे समा, स्थिरा व शीघ्रा गति नाम दिया गया है । ऐसे ही कुछ परिवर्तन आगे भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं ।

(६७) रस निरूपण —

नृत्तसूत्र का यह रस निरूपण भी मुख्यतः नाट्यशास्त्र पर ही आधारित है, तदपि इसकी दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं । प्रथम तो यह कि नाट्यशास्त्र जहाँ नाट्य में आठ रस ही मानता है वहाँ नृत्तसूत्र ने न केवल नवें शान्त रस को मान्यता ही प्रदान की है अपितु उसी का सर्वप्रथम व्याख्यान कर उसे प्रमुखता भी दी है । नृत्त-सूत्र एक धार्मिक ग्रंथ विष्णुधर्मोत्तरपुराण का अंश होने से मोक्ष मार्ग के प्रवर्तक शान्त रस को यह प्राधान्यता दिया जाना सहज स्वाभाविक है । दूसरी बात इस अध्याय के अन्त में ''रसेन हीनं न हि नृत्त-मस्ति'' कह कर नृत्त में भी रस की अवस्थिति मानना है । यहाँ हमें 'नृत्त' का अर्थ 'नृत्य' ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि नन्दिकेश्वर आदि आचार्यों ने उसे ही रस-भावादि की अभिव्यञ्जना से युक्त माना है । 'नृत्त' को तो भरत सहित समस्त आचार्यों ने भावों या अर्थों की अभिव्यक्ति से रहित केवल शोभा विधायक तत्त्व माना है ।

(६८) भावों का निरूपण—

नाट्य शास्त्र में ८ स्थाई भाव, ८ सात्त्विक भाव तथा ३३ संचारी भाव —इस प्रकार कुल ४९ भावों का निरूपण किया गया है। तदनुसार ही यहाँ भी भावों की संख्या तो ४९ ही मानी गई है, किन्तु निरूपण केवल ४६ भावों का किया गया है। इनमें से क्रोध व भय का दो बार (श्लो० ५, ९ तथा ४१) व्याख्यान हुआ है। सात्त्विक भावों में से केवल रोमांच, स्वरभंग, अश्रु-वैवर्ण्य इन चार के ही लक्षण दिये गये हैं, शेष चार स्तम्भ, प्रलय, स्वेद तथा वेपथु अनालोचित रह गये हैं। इसी प्रकार संचारी भावों में से जहाँ चिन्ता, जड़ता व गर्व का व्याख्यान रह गया वहीं प्रबोध को विबोध तथा वितर्क को सन्देह नाम दिया गया है। भावों के क्षेत्र में नृत्त सूत्रकार का एक मात्र मौलिक योगदान "क्रीड़ा" नामक संचारी भाव की परिकल्पना है, जिसका अन्यत्र कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता। रस निष्पत्ति का सिद्धान्त, रस और भाव का परस्पर सम्बन्ध, स्थाई भाव, विभाव, अनुभाव व संचारी भावों का निरूपण आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों का व्याख्यान नृत्तसूत्र के रस-भाव सम्बन्धी दोनों ही अध्यायों में कैसे छूट गया—यह आश्चर्य का विषय है। तदपि इसमें संदेह नहीं कि नृत्तसूत्र का यह रस-भाव विवेचन संक्षिप्त सारगर्भित एवं उपयोगी है।

(६९) मुद्रा हस्त—

हाथ या हाथों की प्रतीकात्मक भंगिमा विशेष, जिसे नाट्यशास्त्रीय परंपरा में हस्त या हस्ताभिनय कहा जाता है, उसे ही तंत्रशास्त्र में "मुद्रा" संज्ञा से अभिहित किया गया है। तंत्र शास्त्रों में इस 'मुद्रा' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बताई गई है—१. कुलार्णव तन्त्र आदि में इसे 'मुद्' (मोद, प्रसन्नता) धातु से एवं 'द्रावय' ('द्रु' का हेतुक) से निष्पन्न माना है तथा ऐसा कहा गया है कि इसका प्रयोग करने से देवता प्रसन्न होते हैं, उनका मन द्रवीभूत होता है तथा राक्षसों का संहार होता है, अतः पूजनादिक कर्मों में मुद्रा का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। २. शारदा तिलक ने इसे 'मुद्' एवं 'रा' (देना) से व्युत्पन्न माना है। इनके मत से मुद्रा का अर्थ है—जो देवों को आनन्द और भक्तों को वांछित फल देती है। मुद्रा तांत्रिक उपासना पद्धति की एक विशिष्ट क्रिया है जो शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि समस्त

तन्त्रों में समान रूप से लोकप्रिय रही है तथा इसके बिना जप, प्राणायाम, देवार्चन, योग ध्यान आदि सभी निष्फल माने गये हैं। अतः समस्त तन्त्रों में सब मिलाकर सहस्त्रों मुद्राएँ वर्णित हैं, जो स्वतन्त्र रूप से अध्ययन सापेक्ष हैं। नृत्तसूत्र ऐसा अपवाद स्थल है जहाँ नृत्ताभिनय को वर्णना के मध्य तांत्रिक मुद्राओं का व्याख्यान किया गया है तथा इन्हें तन्त्र शास्त्र की 'मुद्रा' व नाट्यशास्त्र का 'हस्त' इन दोनों शब्दों को मिलाकर 'मुद्रा हस्त' संज्ञा प्रदान की गई है। वैष्णव तन्त्रों की परम्परा के अनुरूप लगभग २०० मुद्राओं का व्याख्यान १३ तथा १४ वें अध्याय में किया गया गया है। नृत्तसूत्र का यह प्रयास नृत्त व तन्त्र दोनों शास्त्रों के परस्पर आदान-प्रदान की संभावना को प्रथम बार उजागर करता है। वैसे तो सूक्ष्मता से देखने पर हम पाते हैं कि अनेक मुद्राएँ ज्यों की त्यों नृत्य में व्यवहृत हुई हैं किन्तु किसी ने भी उस प्रकार सूत्र का उल्लेख नहीं किया है जहाँ से वे उदाहृत हैं। इस दृष्टि से नृत्तसूत्र ने न केवल हस्ताभिनय के मूल स्रोत की ओर संकेतित किया है अपितु दोनों शास्त्रों की मुद्राओं पर तुलनात्मक रूप से विचार करने का आधार भी प्रस्तुत किया है। नृत्त सुत्र की यह मुद्रा हस्त वर्णना दो अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय (१३ वें) में संपूर्ण विवरण गद्यमय है। इसे मुद्राओं के क्षेत्र में नृत्त का मौलिक योगदान कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें जिन मुद्राओं तथा जिस प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है वह अब तक प्राप्य वैष्णव व तन्त्र संहिताओं में भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। इस तरह इनका 'रहस्य मुद्रा' नाम अन्य प्रकार से भी सार्थक लगता है।

(७०) सामान्य मुद्राओं का वर्णन—

यह 'सामान्य मुद्राध्याय मुद्रा हस्तों की वर्णना का द्वितीय भाग है। इसमें वैष्णव तथा अन्य तन्त्रों से संग्रह कर लगभग सवा सौ मुद्राएँ वर्णित हैं। इस पुराण की वर्तमान प्रतियों के खण्डित होने से कतिपय मुद्राओं के लक्षण तो मिल जाते हैं। किन्तु, वे किनकी हैं, किस वस्तु को प्रकट करती हैं—यह स्पष्ट नहीं होता। संग्रह करने की बात भी इसी आधार पर कही गई है कि एक ही वस्तु की मुद्रा के तीन-तीन कभी चार-चार लक्षण इस अध्याय में प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए श्लोक ३, ८७ व ११५ पर 'नेत्र मुद्रा' के तीन पृथक-पृथक लक्षण दिए गए हैं। इसी प्रकार 'शक्ति मुद्रा' के चार सर्वथा पृथक लक्षण प्राप्य हैं। ऐसे ही कतिपय अन्य मुद्राओं के भी हैं। दूसरी महत्व-पूर्ण बात यह है कि स्तंभनी, पाताल भंजनी, क्रोधिनी, भैरवी, भस्म, लिंग,

जटा, भग आदि बहुत सी ऐसी मुद्राएँ भी यहाँ जो अनिवार्यतः शैव, शाक्त तन्त्रों से संग्रहीत हैं वैष्णव तन्त्रों में कहीं इनका उल्लेख नहीं है । तदपि यह वैष्णव शैव व शाक्त परंपरा के परस्पर आदान-प्रदान का एक सशक्त साक्ष्य सिद्ध हो सकता है ।

(७१) नृत्योत्पत्ति कथा—

चूंकि नृत्त सूत्र विष्णुधर्मोत्तर पुराण का अंश है तथा उक्त पुराण में भगवान विष्णु को ही परम पुरुष निरूपित किया गया है अतः यह भी सहज स्वाभाविक है कि अन्य समस्त ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ नृत्तशास्त्र के आदि प्रवर्तक के रूप में भी वह विष्णु को ही प्रतिष्ठित करने का प्रयास करे । इसी उद्देश्य से यहाँ विष्णु द्वारा मधु-कैटभ के वध की सुप्रसिद्ध पौराणिक कथा को नृत्योत्पत्ति कथा के रूप में वर्णित किया गया है नाट्यशास्त्र में यह कथा २२ वें अध्याय में 'वृत्तियों' की उत्पत्ति के प्रसंग में दी गई है ।

———

